सुवर्णभूमि में कालकाचार्य

डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, एम्. ए., पीएच्. डी.

श्री. संघदास गणि क्षमाश्रमणकृत वृहत्कल्पभाष्य[1] (विभाग १, पृ. ७३-७४) में निम्नलिखित गाथा है :

सागरियमप्पाहण, सुवण्ण सुयसिस्स खंतलक्खेण।
कहणा सिस्सागमणं, धूलीपुंजोवमाणं च ॥ २३६ ॥

इस गाथा की टीका में श्रीमलयगिरि (वि० सं० १२०० आसपास) ने कालकाचार्य के सुवर्णभूमि में जाने की हकीकत विस्तार से बतलाई है जिसका सारांश यहाँ दिया जाता है।

उज्जयिनी नगरी में सूत्रार्थ के ज्ञाता आर्य कालक नाम के आचार्य बड़े परिवार के साथ विचरते थे। इन्हीं आर्य कालक का प्रशिष्य, सूत्रार्थ को जाननेवाला सागर (संज्ञक) श्रमण सुवर्णभूमि में विहार कर रहा था। आर्य कालक ने सोचा, मेरे ये शिष्य जब अनुयोग को सुनते नहीं तब मैं कैसे इनके बीच में स्थिर रह सकूँ? इससे तो यह अच्छा होगा कि मैं वहाँ जाऊँ जहाँ अनुयोग का प्रचार कर सकूँ, और मेरे ये शिष्य भी पिछे से लज्जित हो कर सोच समझ पाएँगे। ऐसा खयाल कर के उन्होंने शय्यातर को कहा : मैं किसी तरह (अज्ञात रह कर) अन्यत्र जाऊँ। जब मेरे शिष्य लोग मेरे गमन को सुनेंगे तब तुम से पृच्छा करेंगे। मगर, तुम इनको कहना नहीं और जब ज्यादा तंग करें तब तिरस्कारपूर्वक बताना कि (तुम लोगों से निर्वेद पा कर) सुवर्णभूमि में सागर (श्रमण) की ओर गये हैं। ऐसा शय्यातर को समझाकर रात्रि को जब सब सोये हुए थे तब वे (विहार कर के) सुवर्णभूमि को गये। वहाँ जा कर उन्होंने स्वयं 'खंत' मतलब कि वृद्ध (साधु) हैं ऐसा बोल कर सागर के गच्छ में प्रवेश पाया। तब यह वृद्ध (अति वृद्ध—मतलब कि अब जीर्ण और असमर्थ-नाकामीयाब होते जाते) हैं ऐसे खयाल से सागर आचार्य ने उनका अभ्युत्थान आदि से सन्मान नहीं किया। फिर अर्थ-पौरुषी (व्याख्यान) के समय पर (व्याख्यान के बाद) सागर ने उनसे कहा : हे वृद्ध! आपको यह (प्रवचन) पसंद आया? आचार्य (कालक) बोले : हाँ! सागर बोला : तब अवश्य व्याख्यान को सुनते रहो। ऐसा कह कर गर्वपूर्वक सागर सुनाते रहे।

अब दूसरे शिष्यलोग (उज्जैन में) प्रभात होने पर आचार्य को न देखकर सम्भ्रान्त हो कर सर्वत्र ढूँढते हुए शय्यातर को पूछने लगे मगर उसने कुछ बताया नहीं और बोला : जब आप लोगों को स्वयं आचार्य कहते नहीं तब मेरे को कैसे कहते? फिर जब शिष्यगण आतुर हो कर बहुत आग्रह करने लगा तब शय्यातर तिरस्कारपूर्वक बोला : आप लोगों से निर्वेद पा कर सुवर्णभूमि में सागर श्रमण के पास चले गये हैं।

फिर वे सब सुवर्णभूमि में जाने के लिए निकल पड़े। रास्ते में लोग पूछते कि यह कौनसे आचार्य विहार कर रहे हैं? तब वे बताते थे : आर्य कालक। अब इधर सुवर्णभूमि में लोगों ने बतलाया कि आर्य कालक नाम के बहुश्रुत आचार्य बहु परिवार सहित यहाँ आने के खयाल से रास्ते में हैं। इस बात को सुनकर सागर ने अपने शिष्यों को कहा : मेरे आर्य आ रहे हैं। मैं इनसे पदार्थों के विषय में पृच्छा करूँगा।

थोड़े ही समय के बाद वे शिष्य आ पहुँचे। वे पूछने लगे : क्या यहाँ पर आचार्य पधारे हैं? उत्तर

१. मुनि श्रीपुण्यविजयजी-संपादित, "नियुक्ति-लघुभाष्य-वृत्युपेतं-वृहत्कल्पसूत्रम्" विभाग १ से ६, प्रकाशक. श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिला : नहीं मगर दूसरे वृद्ध आये हैं। पृच्छा हुई : कैसे हैं? (फिर वृद्ध को देख कर) यही आचार्य हैं ऐसा कह कर उनको वन्दन किया। तब सागर बड़े लज्जित हुए और सोचने लगे कि मैंने बहुत प्रलाप किया और क्षमाश्रमणजी (आर्य कालक) से मेरी वन्दना भी करवाई। इस लिए "आपका मैंने अनादर किया" ऐसा कह कर अपराह्णवेला के समय "मिथ्या दुष्कृतं मे" ऐसे निवेदनपूर्वक क्षमायाचना की। फिर वह आचार्य को पूछने लगा : हे क्षमाश्रमण! मैं कैसा व्याख्यान करता हूँ? आचार्य बोले : सुन्दर, किन्तु गर्व मत करो। फिर उन्होंने धूलि-पुञ्ज का दृष्टान्त दिया। हाथ में धूलि लेकर एक स्थान पर रख कर फिर उठा कर दूसरे स्थान पर रख दिया, फिर उठा कर तीसरे स्थान पर। और फिर बोले कि जिस तरह यह धूलिपुञ्ज एक स्थान से दूसरे स्थान रक्खा जाता हुआ कुछ पदार्थों (अंश) को छोड़ता जाता है, इसी तरह तीर्थङ्करों से गणधरों और गणधरों से हमारे आचार्य तक, आचार्य-उपाध्यायों की परम्परा में आये हुए श्रुत में से कौन जान सकता है कि कितने अंश बीच में गलित हो गये? इस लिए तुम (सर्वज्ञता का—श्रुत के पूर्ण विज्ञाता होने का) गर्व मत करो। फिर जिनसे सागर ने "मिथ्या दुष्कृत" पाया है और जिन्होंने सागर से विनय अभिवादन इत्यादि पाया है ऐसे आर्य कालक ने शिष्य-प्रशिष्यों को **अनुयोग-ज्ञान** दिया।

मलयगिरिजी का दिया हुआ यह वृत्तान्त निराधार नहीं है। पहले तो उनके सामने परम्परा है; और दूसरा यह सारा वृत्तान्त मलयगिरिजी ने प्राचीन बृहत्कल्प-चूर्णि से प्रायः शब्दशः उद्धृत किया है। सूत्र के बाद निर्युक्ति, तदनन्तर भाष्य और तदनन्तर चूर्णि की रचना हुई। फिर एक और महत्त्वपूर्ण आधार उत्तराध्ययन-निर्युक्ति का भी है जिस में सुवर्णभूमि में सागर के पास कालकचार्य के जाने का उल्लेख है—"**उज्जेणि कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए**" (**उत्तराध्ययन-निर्युक्ति**, गाथा १२०). उत्तराध्ययन-चूर्णि में यही वृत्तान्त मिलता है।[२] खुद बृहत्कल्प-भाष्य में कालक-सागर और कालक-गर्दभिल्ल का निर्देश तो है किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ में निर्युक्ति और भाष्य गाथाओं के मिल जाने से इस बात का निश्चय नहीं किया जाता कि उपर्युक्त गाथा निर्युक्ति-गाथा है या भाष्य-गाथा। अगर निर्युक्ति-गाथा है तब तो यह वृत्तान्त कुछ ज्यादा प्राचीन है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति की साक्षी भी यही सूचन करती है।

यह एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख है जिस की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। पहिले तो भारत की सीमा से बाहिर, अन्य देशों में जैन धर्म के प्रचार का प्राचीन विश्वसनीय यह पहला निर्देश है। बृहत्कल्प-भाष्य ईसा की ६ वीं सदी से अर्वाचीन नहीं है यह सर्वमान्य है। और दूसरा यह कि अगर यह वृत्तान्त उन्ही आर्य कालक का है जिनका गर्दभिल्लों और कालक वाली कथा से सम्बन्ध है तब सुवर्णभूमि में जैन धर्म के प्रचार की तवारिख हमें मिलती है। कालक और गर्दभिल्लों की कथा कम से कम चूर्णि-ग्रन्थों से प्राचीन तो है ही, क्यों कि दशाचूर्णि और निशीथ-चूर्णि में ऐसे निर्देश हमें मिलते हैं।[३] और इसी बृहत्कल्पभाष्य में भी निम्नलिखित गाथा है जिसका हमें खयाल करना चाहिये—

---

२. **उत्तराध्ययन-चूर्णि** (रतलाम से प्रकाशित), पृ० ८३-८४.

३. **कालकाचार्य कथा** (प्रकाशक, श्री. साराभाई नवाब, अहमदाबाद) पृ० १-२ में **निशीथचूर्णि**, दशम उद्देश से उद्धृत प्रसंग.

दशाचूर्णि, व्यवहार-चूर्णि और **बृहत्कल्पचूर्णि में** से कालक-विषयक अवतरणों के लिए देखो, **वही**, पृ. ४-५.

वही, पृ० ३६-३८ में भद्रेश्वरकृत **कहावली** में से कालक-विषयक उल्लेखों के अवतरण है। कहावली वि० सं० ८०१-८५० की रचना है। इस विषय में देखो, श्री उमाकान्त शाह का लेख, **जैन सत्य-प्रकाश**, (अहमदाबाद) वर्ष १७, अंक ४, जान्युआरी १९५२, पृ० ८६ से आगे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विज्जा ओरस्सबली, तेयसलद्धी सहायलद्धी वा।
उप्पादेउं सासति, अतिपंतं कालकज्जो वा ॥ ५५९३ ॥

—**बृहत्कल्पसूत्र**, विभाग ५, पृ. १४८०

उपर्युक्त भाष्य-गाथा कालकाचार्य ने विद्या-ज्ञान से गर्दभिल्ल का नाश करवाया इस बात की सूचक है और टीका से यह स्पष्ट होता है। बृहत्कल्पभाष्य-गाथा ई० स० ५०० से ई० स० ६०० के बीच में रची हुई मालूम होती है।[४] और जैन परम्परा के अनुसार कालक और गर्दभ का प्रसंग ई० पू० स० ७४–६० आसपास हुआ माना जाता है।

अब देखना यह है कि सागरश्रमण के दादागुरु आर्य कालक और गर्दभिल्ल-विनाशक आर्य कालक एक हैं या भिन्न। बृहत्कल्पभाष्यकार इन दोनों वृत्तान्तों की सूचक गाथाओं में दो अलग अलग कालक होने का कोई निर्देश नहीं देते। अगर दोनों वृत्तान्त भिन्न भिन्न कालकपरक होते तो ऐसे समर्थ प्राचीन ग्रन्थकार जरूर इस बात को बतलाते। टीकाकार या चूर्णिकार भी ऐसा कुछ बतलाते नहीं। और न ऐसा निशीथचूर्णिकार या किसी अन्य चूर्णिकार या भाष्यकार बतलाते हैं। क्यों कि इनको तो सन्देह उत्पन्न ही न हुआ कि सागर के दादागुरु कालक गर्दभविनाशक आर्य कालक से भिन्न हैं जैसा कि हमारे समकालीन पण्डितों का अनुमान है।

बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में मिलती कालक के सुवर्णभूमि-गमन वाली कथा में कालक के 'अनुयोग' को उज्जैनवाले शिष्य सुनते नहीं थे ऐसा कथन है। आखिर में सुवर्णभूमि में भी कालक ने शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग का कथन किया ऐसा भी इस वृत्तान्त में बताया गया है।[५] यहां कालक के रचे हुए अनुयोग-ग्रन्थों का निर्देश है। 'अनुयोग' शब्द से सिर्फ 'व्याख्यान' या 'उपदेश' अर्थ लेना ठीक नहीं। व्याख्यान करना या उपदेश देना तो हरेक गुरु का कर्तव्य है और वह वे करते हैं और शिष्य उन व्याख्यानों को सुनते भी हैं। यहाँ क्यों कि कालक की नई ग्रन्थरचना थी इसी लिए पुराने खयालवाले शिष्यों में कुछ अश्रद्धा थी। चूर्णिकार और टीकाकार ने ठीक समझ कर अनुयोग शब्द का प्रयोग किया है।

हम आगे देखेंगे कि कालक ने लोकानुयोग और गणिडकानुयोग की रचना की थी ऐसा पञ्चकल्पभाष्य का कथन है। इसी पञ्चकल्पभाष्य का स्पष्ट कथन है कि अनुयोगकार कालक ने आजीविकों से निमित्तज्ञान प्राप्त किया था। इस तरह सुवर्णभूमि जाने वाले कालक पञ्चकल्पनिर्दिष्ट अनुयोगकार कालक ही हैं और वे निमित्तज्ञानी भी थे। गर्दभ-विनाशक कालक भी निमित्तज्ञानी थे ऐसा निशीथचूर्णिगत वृत्तान्त से स्पष्टतया फलित होता है।[६] इस तरह निमित्तज्ञानी अनुयोगकार आर्य कालक और निमित्तज्ञानी गर्दभ-विनाशक आर्य कालक भिन्न नहीं किन्तु एकही व्यक्ति होना चाहिये क्यों कि दोनों वृत्तान्तों के नायक आर्य कालक नामक व्यक्ति हैं और निमित्तज्ञानी हैं। पहले हम कह चूके हैं कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने दो

४. विशेष चर्चा के लिए देखो मुनिश्री पुण्यविजयजी लिखित प्रस्तावना, **बृहत्कल्पसूत्र**, विभाग ६, पृ० २०–२३.

५. देखो—"ताहे **अज्जकालया** चिंतेंति—एए मम सीसा **अणुओगं** न सुणंति × × × × ×।" और, "ताहे मिच्छा दुक्कडं करित्ता आढत्ता **अज्जकालिया** सीसपसीसाण **अणुयोगं** कहेउं।"—**बृहत्कल्पसूत्र**, विभाग १, पृ० ७३–७४.

६. देखो, **निशीथचूर्णि**, दशम उद्देश में कालक-वृत्तान्त—"तत्थ एगो साहि त्ति राया भण्णति। तं समलीणो **णिमित्तादिएहिं** आउट्टेत्ति"।—नवाब प्रकाशित, **कालिकाचार्य कथा, संदर्भ १**, पृ० १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलग अलग आर्य कालक होने का कोई ईशारा भी नहीं दिया। यही कालक जो शक-कुल पारसकुल तक गये वही कालक सुवर्णभूमि तक भी जा सकते हैं। कालकाचार्य का यह विशिष्ट व्यक्तित्व था।

हम आगे देखेंगे कि इस कालक का समय ई० स० पूर्व की पहली या दूसरी शताब्दी था। उस समय में भारत के सुवर्णभूमि और दक्षिण-चीन इत्यादि देशों से सम्बन्ध के थोडे उल्लेख मिलते हैं मगर कालक के सुवर्णभूमिगमन वाले वृत्तान्त की महत्ता आज तक विद्वानों के सामने नहीं पेश हुई।

ग्रीक लेखक टॉलेमी और पेरिप्लस ऑफ ध इरिथ्रीअन सी के उल्लेख से, जैन ग्रन्थ वसुदेव-हिण्डि में चारुदत्त के सुवर्णभूमिगमन के उल्लेख से, और महानिद्देस इत्यादि के उल्लेख से यह बात निश्चित हो चूकी है कि ईसा की पहिली दूसरी शताब्दियों में भारत का पूर्व के प्रदेशों (जैसे कि दक्षिण-चीन, सियाम, हिन्दी-चीन, बर्मा, कम्बोडिया, मलाया, जावा, सुमात्रा आदि प्रदेशों) से घनिष्ठ व्यापारी सम्बन्ध था। चारुदत्त की कथा का मूल है गुणाढ्य की अप्राप्य वृहत्कथा जिसका समय यही माना जाता है। बहुत सम्भवित है कि इससे पहिले—अर्थात् ई० स० पूर्व की पहिली दूसरी शताब्दी में—भी भारत का सुवर्णभूमि से सम्बन्ध शुरू हो चूका था। बॅक्ट्रिया में ई० स० पूर्व १२६ आसपास पहुँचे हुवे चीनी राजदूत चांग कीयेन (Chang Kien) की गवाही मिली है कि दक्षिण-पश्चिम चीन की बनी हुई बांस और रूई की चीजें हिन्दी सार्थवाहों ने सारे उत्तरी भारत और अफघानिस्तान के रास्ते से ले जा कर बॅक्ट्रिया में बेची थी।[७] कालकाचार्य और सागरभ्रमण के सुवर्णभूमि-गमन का वृत्तान्त हमारे राष्ट्रीय इतिहास में और जैनधर्म के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक निर्देश है।

सुमात्रा के नज़दीक में वंका नामक खाड़ी है। डॉ० मोतीचन्द्रजी ने बताया है कि महानिद्देस में उल्लिखित वंकम् या बंकम् यही वंका खाड़ी का प्रदेश है।[८] हमें एक अतीव सूचक निर्देश मिलता है जिसका महत्त्व बृहत्कल्पभाष्य के उपर्युक्त उल्लेख के सहारे से बढ़ जाता है। सब को मालूम है कि आर्य कालक निमित्तज्ञ और मन्त्रविद्या के ज्ञाता थे। आजीविकों से इन्हों ने निमित्तशास्त्र-ज्योतिष का ज्ञान पाया था ऐसे पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि के उल्लेख हम आगे देखेंगे। खास तौर पर दीक्षा-प्रव्रज्या देने के मुहूर्त विषय में इन्होंने आजीविकों से शिक्षा पाई थी। अब हम देखते हैं कि वराहमिहिर के बृहज्जातक के टीकाकार उत्पलभट्ट (ई० स० ९ वीं शताब्दी) ने एक जगह टीका में वङ्गालकाचार्य के प्रव्रज्या-विषयक प्राकृतभाषा के विधान का सहारा दिया है और मूल गाथायें भी अपनी टीका में अवतारित की है।[९] वह विधान निम्नलिखित शब्दों में है :

"एते वङ्गालकमताद् व्याख्याताः। तथा च वङ्गालकाचार्यः—

तावसिओ दिणणाहे चन्दे कावालिओ तहा भणिओ।
रत्तवडो भुमिसुवे सोमसुवे एअदंडीआ ॥
देवगुरुसुक्कोणे कमेण जइ-चरअ-खमणाई।

अस्यार्थः तावसिओ तापसिकः दिणणाहे दिननाथे सूर्ये चन्दे चन्द्रे कावालिओ कापालिकः तहा भणिओ तथा भणितः। रत्तवडो रक्तपटः। भुमिसुवे भूमिसुते सोमसुवे सोमसुते बुधे एअदंडीआ एकदण्डी।...कमेण

---

७. डॉ. पी० सी० बागची, इन्डिया ऑन्ड चाइना (द्वितीय संस्करण, बम्बई, १९५०), पृ० ५-६, १६-१७, १९-२७.

८. कल्पना, फरवरी, १९५२, पृ० ११८.

९. महामहोपाध्याय पां० वा० काणे, वराहमिहिर एन्ड उत्पल, जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटि, १९४८-४९, पृ० २७ से आगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमेण जई यतिः चरअ चरकः सवआई क्षपणकः। अत्र वृद्धश्रावकग्रहणं माहेश्वराश्रितानां प्रव्रज्यानामुपलक्षणार्थं। आजीविकग्रहणं च नारायणाश्रितानाम्। तथा च वङ्कालके संहितान्तरे पठ्यते—

जलण-हर-सुगअ केसव सूई बम्हण्ण णग्ग मग्गेसु।
दिक्खाणं णाअव्वा सूराइग्गहा कमेण णाहगआ॥

जलण ज्वलनः साग्निक इत्यर्थः। हर ईश्वरभक्तः भट्टारकः सुगअ सुगत बौद्ध इत्यर्थः। केसव केसवभक्त भागवत इत्यर्थः। सूई श्रुतिमार्गगतः मीमांसकः। ब्रह्मण्ण ब्रह्मभक्तः वानप्रस्थः। णग्ग नग्न-क्षपणकः।XXXX[10]

वराहमिहिर ने अपने बृहज्जातक, १५.१ में प्रव्रज्या के विषय में जो विधान दिया है वह उत्पल भट्ट के कथन के अनुसार वङ्कालक के मतानुसार वराहमिहिर ने दिया है। उसी बात के स्पष्टीकरण में उत्पलभट्ट वङ्कालक की प्राकृत गाथायें उद्धृत करते हैं। यहाँ वंकालकाचार्य (वङ्कालकाचार्य) ऐसा पाठ होने से इस प्राकृतविधान (गाथायें) के कर्ता के जैन आर्य कालक होने के बारे में विद्वानों में संदेह रहा है। महामहोपाध्याय श्री पां० वा० काणे ने यह अनुमान किया है कि वंकालकाचार्य का कालकाचार्य होना सम्भवित है।[11] हम देखते हैं कि कालकाचार्य और इनके प्रशिष्य सुवर्णभूमि गये थे। सुवर्णभूमि से यहाँ वस्तुतः किस पूर्वी प्रदेश का उल्लेख है यह तो पूरा निश्चित नहीं है किन्तु, विद्वानों का ख़याल है कि दक्षिण बर्मा से लेकर मलाया और सुमात्रा के अन्त तक का प्रदेश सुवर्णभूमि बोला जाता था (देखो, डॉ० मोतीचन्द्र कृत, सार्थवाह, नकशा) जिसमें "वंकम्" या वंका की खाड़ी भी आ जाती है। पॉलेमबेंग के इस्टुअरी के सामने वंका द्वीप है। वंका का जलडमरुमध्य मलाया और जावा के बीच का साधारणपथ है। डॉ० मोतीचन्द्रजी लिखते हैं : बंका की रॉंगे की खदानें मशहूर थीं। संस्कृत में बँग के माने रॉंगा होता है और सम्भव है कि इस धातु का नाम उसके उद्गमस्थान पर से पड़ा हो।[12]

उत्पल-टीका की हस्तप्रतों का पाठ—'वङ्कालकाचार्य' और 'वङ्कालक-संहिता' उन आचार्य का सूचक हो सकता है जो सुवर्णभूमि में गये थे और जिनके प्रशिष्य सागरश्रमण सपरिवार सुवर्णभूमि में (इस में "वङ्का" आ जाता है) रहते थे। सम्भव है येही आचार्य कालक के अलावा "वङ्कालक" या "वङ्का-कालक" नाम से भी पिछाने जाते हों। यह भी हो सकता है कि शुद्ध पाठ कालकाचार्य और कालक-संहिता हो किन्तु कालक के वङ्का-गमन की स्मृति में पाठ में अशुद्धि हो गई हो। उत्पलभट्ट का कहना है कि वराहमिहिर ने प्रव्रज्या के विषय में (बृहज्जातक, १५. १) वङ्कालकाचार्य (कालकाचार्य) के मत का अनुसरण किया है। पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि गवाही देते हैं कि कालकाचार्य ने उसी प्रव्रज्या के विषय का आजीवकों से सविशेष अध्ययन किया था। अतः उत्पल-टीका के वङ्कालकाचार्य कालकाचार्य हैं ऐसा मानना समुचित है।

ईसा की सातवीं शताब्दि आसपास रची हुई **पञ्चकल्प-चूर्णि** में लिखा है—[13]

लोगाणुओगे, अज्जकालगा सज्झंतवासिणा भणिया एत्तियं। सो न नाओ मुहुत्तो जत्थ

१०. बृहज्जातक (वेङ्कटेश प्रेस, बम्बई, सं. १९८०) उत्पलकृत टीका सह, पृ० १५६

११. देखो, महा. पां० वा० काणे, वराहमिहिर एन्ड उत्पल, जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध आर० ए० एस० १९४८-४९ पृ० २७ से आगे.

१२. डॉ० मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ० १३०–१३१, १३४.

१३. श्री आत्मारामजी जैन ज्ञानमंदिर, बडौदा, प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजी शास्त्रसङ्ग्रह, हस्तलिखित प्रति नं० १२८४, पत्र २९ से उद्धृत.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पव्वाविओ थिरो होज्जा। तेण निव्वेएणं **आजीवगपासे निमित्तं पढियं**। पच्छा पइट्ठाणे ठिओ। **सायवाहणेण रन्ना** तिन्नि पुच्छाओ मामगा सयसहस्सेण—एगा पसुलिंडिया को वलेइ। बिइया समुद्दे केत्तियं उदयं। प्रत्ययात्फलं पुच्छइ—**महुरा किच्चिरेणं पडइ न वा**। पढमाए कडगं लक्खमुल्लं। बिइ[य-तइ]याए कुंडलाइं। आयरिएण भणियं—"अलाहि मम एएण।" किं पुण निमित्तस्स उवयारो एस। आजीवगा उवट्ठिया—अम्ह एस गुरुदक्खिणाए। पच्छा तेण सुत्ते एट्ठे **गंडियाणुयोगा** कया। पाडलिपुत्ते संघमज्झे भणई—मए किंचि कयं तं निसामेह। तत्थ पयट्ठियं। **संगहणीओ** वि ण कप्पट्ठियाणं अप्पधाणाणं उवग्गहकराणि भवंति। **पढमाणुयोगमाई** वि तेण कया।

उपर्युक्त चूर्णि का सारांश यह है कि, अपने मेधावी शिष्य प्रव्रज्या में स्थिर न रहने से, उनके सहाध्यायी ने जब आर्य कालक को यह मार्मिक वचन सुनाया कि आपने ऐसा मुहूर्त निकालना नहीं सीखा जिसमें प्रव्राजित शिष्य प्रव्रज्या में स्थिर रहे तब कालकाचार्य आजीविकों के पास गये और उनसे निमित्त-शास्त्र पढ़ा। पिछे प्रतिष्ठानपुर गये जहाँ सातवाहन राजा ने उनको तीन प्रश्न पूछे और हरेक प्रश्न का ठीक उत्तर होने पर एक एक लक्ष (सुवर्णमूल्य) देने को कहा। पहले प्रश्न का उत्तर मिलने से लक्षमूल्य अपना कटक दिया। दूसरे और तिसरे प्रश्न के उत्तर मिलने पर अपना एक एक कुंडल दिया। सातवाहन को पहले दो प्रश्न के उत्तर मिलने से जो प्रतीति हुई इससे उसने तीसरा प्रश्न यह किया कि मथुरा कब (कितने समय के बाद) पड़ेगी और पड़ेगी या नहीं ? यह तीसरे प्रश्नवाली हकीकत सविशेष महत्त्व की है जिसके बारे में आगे विचार होगा।

कटक और कुंडल को देख कर कालकाचार्य ने कहा कि उनको इन चीजों की जरूरत नहीं (उनको तो अग्राह्य थीं)। इतने में (कालकाचार्य को निमित्तज्ञान देनेवाले) आजीविक आ पहुँचे और अलङ्कारों को देखकर बोले—(हमें गुरुदक्षिणा अभी तक मिली नहीं) यही हमारी गुरुदक्षिणा (होगी)। पिछे कालकाचार्य ने **गणिडकानुयोग** की रचना की और पाटलिपुत्र में सङ्घ के समक्ष निवेदन किया : मैंने कुछ रचनायें की हैं, आप इनको सुनिये। सुनकर सङ्घने इस रचना को मान्य किया। कालकाचार्य ने अल्पधारणाशक्तिवाले बालकों (बालकतुल्यों) के लिए **संग्रहणीयाँ** (संङ्ग्रहणी-गाथायें) बनाई वे उपकारक हुईं! उन्होंने **प्रथमानुयोग** भी बनाया।

पञ्चकल्पचूर्णि का कालकपरक वृत्तान्त कुछ विस्तारपूर्वक पञ्चकल्पभाष्य में पाया जाता है। वस्तुतः सङ्घदास गणिकृत पञ्चकल्पभाष्य पञ्चकल्पचूर्णि से प्राचीन है और ई० स० की ६ वीं सदी में बना हुआ है। **पञ्चकल्पभाष्य** की प्रस्तुत गाथायें निम्नलिखित हैं—

मेहावीसीसम्मी, ओहातिए **कालगज्ज** थेराणं।
सज्झंतिएण अह सो, खिंसंतेणं इमं भणिओ॥
अतिबहुतं तेऽधीतं, ण य णातो तारिसो मुहुत्तो उ।
जत्थ थिरो होइ सेहो, निक्खंतो अहो! हु बोद्धव्वं॥
तो एव स ओमत्थं, भणिओ अह गंतु सो पतिट्ठाणं।
आजीविसगासम्मी, सिक्खति ताहे निमित्तं तु॥
अह तम्मि अहीयम्मी, **वडहेट्ठ** निविट्ठकऽन्नयकयातिं।
सालाहणो णरिंदो, पुच्छतिमा तिण्णि पुच्छाओ॥
पसुलिंडि पढमयाए, बितिय समुद्दे व केत्तियं उदयं।
ततियाए पुच्छाए, **महुरा य पडेज्ज व ण व त्ति**॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पढमाए व से कडगं, देइ महं सयसहस्समुल्लं तु।
बितियाए कुंडलं तू, ततियाए वि कुंडलं बितियं॥
आजीविता उवट्ठित, गुरुदक्खिणएणं तु एय अम्हं ति।
तेहिं तयं तु गहितं, इयरोचितकालकज्जं तु॥
णट्ठम्मि उ सुत्तम्मी, अत्थम्मि अणट्ठे ताहे सो कुणइ।
लोगणुजोगं च तहा, पढमणुजोगं च दोऽवेए।
बहुहा णिमित्त तहियं, पढमणुओगे य होंति चरियाइं।
जिण-चक्कि-दसाराणं, पुव्वभवाइं णिबद्धाइं॥
ते काऊणं तो सो, पाडलिपुत्ते उवट्ठितो संघं।
बेइ कतं मे किंची, अणुग्गहट्ठाए तं सुणह॥
तो संघेण णिसंतं, सोऊण य से पडिच्छितं तं तु।
तो तं पतिट्ठितं तू, णगरम्मी कुसुमणामम्मि॥
एमादीणं करणं, गहणा णिज्जूहणा पकप्पो उ।
संगहणीण य करणं, अप्पाहाराण उ पकप्पो॥[१४]

पहले पञ्चकल्पचूर्णि का बताया हुआ वृत्तान्त यहाँ पर है, और यह भाष्यगत वृत्तान्त ही चूर्णि का मूल है। भाष्यगाथा में स्पष्टीकरण है कि निमित्त सिखने के लिए कालकाचार्य प्रतिष्ठान-नगर को गये और वहाँ उन्होंने आजीविकों से निमित्त पढ़ा। पढ़ने के बाद किसी समय वे वट-वृक्ष के नीचे स्थित थे जहाँ 'सालाहण-नरिन्द' जा पहुँचा और कालक से तीन प्रश्न पूछे। प्रश्न और गुरुदक्षिणा वाली बात दोनों ग्रन्थों में समान है किन्तु भाष्य में आगे की बातें कुछ विस्तार से हैं। भाष्यकार कहते हैं कि इस प्रसङ्ग के बाद कालकाचार्य अपने उचितकार्य में—धर्मकार्य में धर्माचरण में—लगे। सूत्र नष्ट होने से और अर्थ अनष्ट होने से (मतलब कि सूत्र दुर्लभ हो गये थे किन्तु प्रतिपाद्य विषय का अर्थज्ञान शेष था।) इन्होंने **लोकानुयोग और प्रथमानुयोग इन दोनों शास्त्रों की रचना की। लोकानुयोग में निमित्तज्ञान था, और** प्रथमानुयोग में जिन, चक्रवर्ती, दशार इत्यादि के चरित्र थे। इस रचना के बाद वे पाटलिपुत्र में सङ्घ के समक्ष उपस्थित हुए और अपनी ग्रन्थरचना सुनने की विज्ञप्ति की। ग्रन्थों को सुनकर इनको सङ्घ ने प्रमाणित किये—मान्य रक्खे। वे शास्त्रग्रन्थ माने गये। इन सब का करना, निर्यूहन करना इत्यादि को जैन परिभाषा में 'प्रकल्प' कहते हैं। और सङ्ग्रहणी इत्यादि की रचना भी प्रकल्प बोली जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि आर्य कालक निमित्तशास्त्र के बड़े पण्डित थे और प्रव्रज्या के विषय में (निमित्तशास्त्र का) इन्होंने आजीविकों से सविशेष अध्ययन किया था। वे बड़े ग्रन्थकर्ता थे जिन्होंने प्रथमानुयोग, लोकानुयोग इत्यादि की रचना की। इस लोकानुयोग में निमित्तशास्त्र आता है। अतः क्यों कि प्रव्रज्या के विषय में ही वराहमिहिर वड्ढकालक के मत का अनुसरण करते हैं और उसी विषय की उनकी रची हुई गाथायें उत्पलभट्ट ने उद्धृत की हैं। हमें विश्वास होता है कि 'वड्ढालक' से आर्य कालक ही उद्दिष्ट हैं। हमें यह भी खयाल रखना चाहिये कि उत्पलभट्ट ने अवतारित की हुई गाथायें उसी प्राकृत में हैं जिसमें जैनशास्त्र रचे गये हैं।

इस चर्चा से यह फलित होता है कि **आर्य कालक, अनुयोग-कार कालक, निमित्तवेत्ता कालक**

१४. **पञ्चकल्पभाष्य**, मुनिश्री हंसविजयजी शास्त्रसंग्रह (श्री आत्मारामजी जैन ज्ञानमन्दिर, बड़ोदा), **हस्तलिखित प्रति नं० १६७३, पत्र ५०.**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐतिहासिक व्यक्ति थे, उनकी रचनायें वराहमिहिर ने देखी थीं और ई० स० की ६ वीं शताब्दी में उत्पलभट्ट के सामने भी कालक की रचनायें या इनका अंश मौजूद था।

यह कालक वराहमिहिर के वृद्धसमकालीन या पूर्ववर्ती होंगे। अनुयोग के चार विभाग करने वाले आर्यरक्षित[१५] से आर्य कालक पूर्ववर्ती होने चाहिये। आर्य रक्षित का समय ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त में माना जाता है। अतः कालकाचार्य वराहमिहिर के पूर्ववर्ती हैं। वराहमिहिर का समय शक संवत् ४२७ या ई० स० ५०५ आसपास माना गया है।[१६] इस समय के आसपास कालक शकों को भारत में लाये ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि ईसा की पहली सदी में भारत में शक जुरूर बसे हुए थे और जगह जगह पर उनका शासन भी था। अतः आर्य कालक वराहमिहिर के पूर्ववर्ती ही थे। हम देख चूके हैं कि अनुयोगकार निमित्तज्ञ कालक और गर्दभिल्ल-विनाशक निमित्तज्ञ कालक एक ही हैं और वही सुवर्ण-भूमि में गये थे।

डॉ० आर० सी० मजुमदार लिखते हैं : "An Annamite text gives some particulars of an Indian named Khauda-la. He was born in a Brāhmaṇa family of Western India and was well-versed in magical art. He went to Tonkin by sea, probably about the same time as Jīvaka.....*He lived in caves or under trees, and was also known as Ca-la-cha-la (Kālāchārya—black preceptor ?)*"[17]

इसका मतलब यह है कि अनाम-चम्पा के किसी ग्रन्थ में लिखा है कि पश्चिमी भारत की ब्राह्मणजाति का कोई **खऊद्-ल** नामक व्यक्ति वहाँ गया था और वहाँसे दरियाई रास्ते टोन्किन (दक्षिण चीन) गय था। यह व्यक्ति जादू–गुह्यविद्या-मन्त्रविद्या में निपुण था। पेड़ों कि छाँय में या तो गुफाओं में वह पुरुष निवास करता था और उसको **कालाचार्य** कहते थे।

डॉ० मजुमदार का कहना है कि यह कालाचार्य शायद उसी समय में अनाम और टोन्किन गये जिस समय बौद्ध साधु जीवक गया था। जीवक या मारजीवक ई० स० २९० आसपास टोन्किन में था।[18] इसी अनाम की परम्परा के विषय में डॉ० पी० सी० बागची से विशेष पृच्छा करने से इन्होंने मुझे लिखा है—

"Khaudala is not mentioned in any of the authentic Chinese sources which speak of the other three Buddhist monks Mārajīvaka, Sangha-Varman and Kalyāṇaruci who were in Tonkin during the 3rd century A.D. But he is referred to for the first time (loc. cit. P. 217) in an Annamese book—*Cho Chau Phap Van Phat Bah hanh ngi lue* of the 14th century. The text says "Towards the end of the reign of Ling Han (168-188 A.D.) Jīvaka was travelling. Khau-da-la (Kiu-to-lo = Kṣudra) arrived about

---

१५. देविंद वंदिएहिं, महाणुभावेहिं रक्खिअ अज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विहत्तो, अणुओगो ता कहो चउहा ॥
—**आवश्यक निर्युक्ति,** गाथा ७७४

१६. वराहमिहिर का समय शक सं० ३२७ या ई० स० ४०५ आसपास है ऐसा एक मत के लिए देखो, **इन्डिअन कल्चर,** वॉल्युम ६, पृ० १९१–२०४.

१७. **एज ऑफ इम्पीरिअल युनिटि,** पृ० ६५०. इटालिक्स मेरे हैं.

१८. **वही,** पृ० ६५०. और देखिये, *Le Bouddhisme en Annam,* Bulletin d'ecole Francaise d'Extreme-Orient, Vol. XXXII.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the same time from Western India. He had another name Ca-la-cha-lo (Kia-lo-cho-lo = Kālācārya)."

डॉ. बागची आगे अपने पत्र में लिखते हैं कि 'क्यों कि मारजीवक चीनी आधार से ई० स० २९० और ई० स० ३०६ के बीच में वहाँ दौरा लगाता था इस लिए अनाम के इस ग्रन्थ में पायी जाती हकीकत ठीक नहीं लगती।'[१९] यह ठीक है कि जीवक का समय ई० स० २९० से ३०६ मानना चाहिये न कि ई० स० १६८–१८८ जो अनाम के ग्रन्थ का कहना है। किन्तु ई० स० १४ वीं शताब्दी में बने हुए इस ग्रन्थ के कर्ता को पूरी हकीकत वास्तविक रूप में मिलनी मुश्किल है। फिर भी जिस तरह जीवक के अनाम और टोन्किन में जाने की बात विश्वसनीय है इसी तरह कालाचार्य के अनाम जाने की हकीकत सम्भवित हो सकती है।

क्या यह अनाम की परम्परा में इन्हीं कालकाचार्य की स्मृति तो नहीं जो विद्या-मन्त्र-निमित्त के ज्ञाता थे, जो सुवर्णभूमि में विचरे थे, जिनका गुफाओं में और पेड़ों के नीचे रहना मानना युक्तिसङ्गत है और जो पश्चिमी भारत के रहनेवाले थे ? वे जन्म से ब्राह्मण हो सकते हैं, कई सुप्रसिद्ध जैनाचार्य जन्म से ब्राह्मण थे। जैन साधु गुफाओं में भी रहते थे। और पेड़ों के नीचे रहने वाली हकीकत कालकाचार्य के बारे में सच्ची है। उपर्युक्त पञ्चकल्पभाष्य में स्पष्ट लिखा है कि सातवाहन नरेन्द्र कालकाचार्य को मिले तब आर्य कालक वटवृक्ष के नीचे निविष्ट थे। **कालकाचार्य पेड़ो के नीचे रहते थे।** अनाम के ग्रन्थ का यह कहना कि कालाचार्य गुफाओं में और पेड़ों के नीचे रहते थे वह इस वस्तु का द्योतक है कि वे पुरुष गृहस्थी नहीं किन्तु साधु-जीवन गुजारने वाले थे। और जब हमें प्राचीन जैनग्रन्थों (उत्तराध्ययननिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य इत्यादि) की साक्षी मिलती है कि कालकाचार्य सुवर्णभूमि में गये थे तब अनाम-परम्परा के कालाचार्य वाली हकीकत में इसी कालकाचार्य के सुवर्णभूमि-गमन की स्मृति मानना उचित होगा।

कालाचार्य या कालकाचार्य के सुवर्णभूमिगमन का कारण भी दिया गया है। कालक की ग्रन्थरचनायें जिनको पाटलिपुत्र के सङ्घ ने भी प्रमाणित की थीं उन्हें खुद उनके शिष्य भी (उज्जैन में) नहीं सुनते थे। आर्य कालक इसी से निर्विण्ण हो कर देशान्तर गये। सुवर्णभूमि में जहाँ उनके मेधावी श्रुतज्ञानी प्रशिष्य सागरश्रमण थे वहाँ जाना आर्य कालक ने उचित माना।

अनाम की परम्परा का जो निर्देश है कि कालाचार्य पश्चिमी भारत के ब्राह्मण थे उसको भी सोचना चाहिए। कालक-कथानकों से यह तो स्पष्ट है कि इनका ज्यादा सम्बन्ध उज्जैन, भरूच (भरुकच्छ) और प्रतिष्ठानपुर से रहा। अतः आर्य कालक पश्चिमी भारत के हो सकते हैं, और पूर्व में अनाम परम्परा उनको पश्चिमी भारत के मान ले यह स्वाभाविक है। कालाचार्य-कालकाचार्य के जन्म से ब्राह्मण होने के विषय में हम देख चूके हैं कि यह बात असम्भव नहीं, कई प्रभाविक जैन आचार्य पहले श्रोत्रिय ब्राह्मण पण्डित थे। और आर्य कालक के विषय में एक कथानक भी है जिससे वह ब्राह्मणजातीय थे ऐसा मान सकते हैं। आवश्यक-चूर्णि और कहावली (ई० स० १२०० के पहिले रचा हुआ, शायद ई० स० ९ वीं शताब्दि में रचित) में एक कथानक है जिस में बताया गया है कि कालक तुरुमिणी नगरी में भद्रा नामक ब्राह्मणी के सहोदर थे। भद्रा के पुत्र दत्त ने उस नगरी के राजा को पदभ्रष्ट करके राज्य ले लिया और उसने बहुत यज्ञ किये। इस दत्त के सामने कालकाचार्य ने यज्ञों कि निन्दा की और यज्ञ का बूरा फल कहा। इस से दत्त ने आचार्य को कैद किया। आचार्य के भविष्यकथन के अनुसार राजा दत्त बूरे हाल मरा।[१९अ] यज्ञफल और दत्त के भविष्य-

१९. डा. बागचीजी द्वारा दी गई प्रस्तुत सूचना के लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

१९अ. देखो, **कालकाचार्य-कथा** (श्री. नवाब प्रकाशित) पृ० ४० **आवश्यक-चूर्णि,** भाग १, पृ. ४९५–४९६ में भद्रा को "धिग्जातिणी" कही है। भद्रा ब्राह्मणधर्मी होने से इसके लिए जैन लेखक ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथन के वर्णन से स्पष्ट होता है कि यह कालक निमित्त के, ज्योतिष के, जानने वाले थे। इस तरह दत्त के मातुल आर्य कालक और अनाम-परम्परा के कालाचार्य ब्राह्मण होने की संगति मिलती है। दोनों वृत्तान्तों में कालक को निमित्त-मन्त्र–विद्या–ज्ञान होने का भी साम्य है।

गर्दभिल्लोच्छेदक कालक का भागिनेय बलमित्र राजा था। यहाँ कहावली,[२०] आवश्यक चूर्णि[२१] इत्यादि के उपर्युक्त कथानक में कालकाचार्य का भागिनेय दत्त भी राजा होता है। यह भी विचारणीय है।

बलमित्र का धर्म कौनसा था? और बलमित्र-भानुमित्र क्या सचमुच कालक के भागिनेय थे? निशीथचूर्णि कहती है कि कितनेक आचार्यों के कथनानुसार वे (बलमित्र-भानुमित्र) कालकाचार्य के भागिनेय थे। मगर निशीथचूर्णिकार भगवज्जिनदास महत्तर को (ई० स० ६७६ आसपास) यह पक्का मालूम नहीं था इसी लिए इन्होंने निश्चितरूप से नहीं बताया।[२२] कालकाचार्य और जिनदास के सत्तासमय के बीच में ठीक ठीक अन्तर होगा जिससे जिनदास को इस विषय में अविच्छिन्न विश्वसनीय परम्परा मिल न सकी। आगे जिनदास कहते हैं कि बलमित्र के भागिनेय बलभानु ने जैनी दीक्षा ली जिससे बलमित्र का पुरोहित और दूसरे नाराज हुए। पुरोहित ब्राह्मणधर्मी होने से बलमित्र-भानुमित्र भी ब्राह्मणधर्मी होंगे। अगर कालकाचार्य के इन दोनों भागिनेय जैनधर्मी होते तो कालकाचार्य के लिये उज्जैन से बाहिर चले जाने की परिस्थिति खड़ी न होती जैसा कि आवश्यक-चूर्णि अन्तर्गत (तिथि बदलनेवाली) कथानक में वर्णित है। भागिनेय होने पर भी अगर बलमित्र-भानुमित्र ब्राह्मणधर्मी हों तब वे सब बातें होनी असम्भव नहीं। अगर कालक खुद जन्म से ब्राह्मणजातीय हों तब तो उनके भागिनेय बलमित्र-भानुमित्र ब्राह्मणधर्मी होने का सुसंगत ही होता है। ब्राह्मणधर्मी होने पर भी क्योंकि बलमित्र-भानुमित्र कालक के भागिनेय थे, इन दोनों ने गर्दभोच्छेदन में कालक को सहायता दी। दत्त और बलमित्र दोनों अलग अलग कथानकों में कालक के भागिनेय कहे गये हैं। वे दोनों एक थे या भिन्न भिन्न व्यक्ति? कथानकों के ढंग से तो उनके अलग अलग व्यक्ति होने का अनुमान होता है।

तुरुमिणी (या तुरुविणी) नगरी कहाँ थी? वह शायद हाल में मध्यभारत में तुमैन (Tumain नाम से पिछानी जाती नगरी होगी।[२३] कालकाचार्य का ज्यादा सम्बन्ध उज्जैन, भरुकच्छ और प्रतिष्ठानपुर से रहा इस से तुरुमिणी का मध्य या पश्चिम भारत में होना सम्भवित है किन्तु वह कहाँ थी यह निश्चितरूप से कहना शक्य नहीं।

श्री नवाब प्रकाशित कालकाचार्य कथा में दिये हुए मध्यकालीन (संवत् ११०० के पिछे रचे गये)

ऐसा शब्दप्रयोग आचार्य हरिभद्र और शीलाङ्क के टीकाग्रन्थों में ब्राह्मणों को 'धिग्जातीय' ही कहा गया है अत एव नवाब प्रकाशित अन्य कथाओं में पिछे के (मध्यकालीन) लेखकों ने कालकाचार्य की भगिनी (दत्त की माँ) को ब्राह्मण जातीय बताई है वह ठीक ही है।

२०. नवाब प्रकाशित, **कालकाचार्यकथा**, पृ० ४०

२१. **वही**, पृ० ४०

२२. 'केयि आयरिया भणंति, जहा–बलमित्त–भाणुमित्ता कालगायरियाणं भागिणेज्जा भवंति। मातुलो त्ति काउं महंतं आदरं करेंति अब्भुट्ठाणादियं।'—निशीथचूर्णि, उद्देश १०, **कालकाचार्यकथा** (नवाब प्रकाशक), पृ० २. देवचन्द्रसूरिविरचित कालककथा (सं० ११४६) में बलमित्र-भानुमित्र को कालक के भागिनेय कहे हैं, देखो, **कालकाचार्यकथा**, (नवाब), पृ० १४. **वही**, पृ० ३७ में **कहावली**-अन्तर्गत कथानक में भी यही कहा गया है।

२३. मूल ग्वालिअर रियासत का यह तुमैन एक प्राचीन स्थल है जहाँ से उत्तरगुप्तकालीन शिल्प इत्यादि मिले हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथानकों से प्रतीत होता है कि इन लेखकों को सुवर्णभूमि का ठीक पता नहीं रहा होगा। इसी लिए प्रभावक-चरित्र के कर्ता (समय वि० सं० १३३४=ई० स० १२७७) सागर को उज्जैनी में बसे कहते हैं। और दूसरे लेखक सुवर्णभूमि के बजाय स्वर्णपुर कहते हैं। कई लेखक प्रदेश का नाम छोड़ देते हैं या दूर-देश या देशान्तर ऐसा अस्पष्ट उल्लेख करते हैं। इस से यह स्पष्ट होता है कि इन पिछले लेखकों के समय में कई परम्परायें विच्छिन्न थीं। और कई बातें उनकी समझ में आ न सकीं। ऐसे संयोग में हमारे लिए यही उचित है कि हम भाष्यकार, चूर्णिकार, कहावलीकार और मलयगिरि के कथनों में ज्यादा विश्वास रक्खें और हो सके वहाँ तक इन्हीं साक्षियों से कालकविषयक खड़ी होती समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करें। हम देख चुके हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे न कि काल्पनिक। निमित्तज्ञानी, अनुयोगकार आर्य कालक सुवर्णभूमि में गये थे ऐसा निर्युक्तिकार, भाष्यकार और चूर्णिकार का कहना है जिसमें सन्देह रखने का कोई कारण नहीं।

लेकिन सुवर्णभूमि किस प्रदेश को कहते थे ? सुवर्णभूमि का निर्देश हमें महानिद्देस जैसे प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। डॉ० मोतीचन्द्र लिखते हैं—"महानिद्देस के सुवर्णकूट और सुवर्णभूमि को एक साथ लेना चाहिये। सुवर्णभूमि, बंगाल की खाड़ी के पूरब के सब प्रदेशों के लिए एक साधारण नाम था; पर सुवर्णकूट एक भौगोलिक नाम है। अर्थशास्त्र (२।२।२८) के अनुसार सुवर्णकुड्या से तैलपर्णिक नाम का सफेद या लालचन्दन आता था। यहाँ का अगर पीले और लाल रंगों के बीच का होता था। सबसे अच्छा चन्दन मैकासार और तिमोर से, और सबसे अच्छा अगर चम्पा और अनाम से आता था। सुवर्णकुड्या से दुकूल और पत्रोर्ण भी आते थे। सुवर्णकुड्या की पहचान चीनी किन्लिन् से की जाती है जो फूनान के पश्चिम में था।[२४]"

सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप ये दोनों नाम सागरपार के पूर्वी प्रदेशों के लिए प्राचीन समय से भारत-वासियों को सुपरिचित थे। जातककथायें, गुणाढ्य की (अभी अनुपलब्ध) बृहत्कथा के उपलब्ध रूपान्तर, कथाकोश और विशेषतः बौद्ध और दूसरे साहित्य के कथानकों में इनके नाम हमेशा मिलते रहते हैं। एक जातककथा के अनुसार महाजनक नामक राजकुमार धनप्राप्ति के उद्देश से सोदागरों के साथ सुवर्णभूमि को जानेवाले जहाज में गया था। दूसरी एक जातककथा भरुकच्छ से सुवर्णभूमि की जहाजी मुसाफिरी का निर्देश करती है। सुप्पारक-जातक में ऐसी ही यात्रा विस्तार से दी गई है।[२५]

गुणाढ्य की बृहत्कथा तो अप्राप्य है किन्तु उससे बने हुए बुधस्वामि-लिखित बृहत्कथाश्लोकसङ्ग्रह में सानुदास की सुवर्णभूमि की यात्रा बताई गई है। कथासरित्सागर में सुवर्णद्वीप की यात्राओं के कई निर्देश हैं। कथाकोश में नागदत्त को सुवर्णद्वीप के राजा सुन्द ने बचाया ऐसी कथा है।[२६]

बृहत्कथा के उपलब्ध रूपान्तरों में सबसे प्राचीन है सङ्घदास वाचक कृत वसुदेवहिण्डि (रचना-काल-ई० स० ३०० से ई० स० ५०० के बीच)। सार्थ के साथ उत्कल से ताम्रलिप्ति (वर्तमान तामलुक्) की ओर जाते हुए चारुदत्त को रास्ते में लूटेरों की भेंट होती है, लेकिन वह बच जाता है। सार्थ से उसे अलग होना पड़ता है और वह अकेला प्रियंगुपट्टण पहुँचता है जहाँ पहचानवाले व्यापारी की सहाय से वह नया माल ले कर तरी रास्ते व्यापार के लिए जाता है। चारुदत्त अपना वृत्तान्त देता है—"पिछे...मैंने जहाज को सज्ज किया, उस में माल भरा, खलासियों के साथ नौकर भी लिये...राज्यशासन का पट्टक (पासपोर्ट)

---

२४. डा० मोतीचन्द्र, **सार्थवाह**, पृ० १३४.

२५. **जातक**, भाग ६ (इंग्लिश में), पृ० २२; **वही**, भाग ३, पृ० १२४; भाग ४, पृ० ८६; और **जातकमाला**, नं० १४.

२६. **कथासरित्सागर** (बम्बई-प्रकाशन), तरङ्ग ५४, श्लो० ८६ से आगे, ९५ आगे; तरङ्ग, ५७, ७२ से आगे; पृ० २७६, २९७; तरङ्ग, ८६, ३३, ६२; तरङ्ग, १२३. ११०. **कथाकोश** (Tawneys Ed.) पृ० २८-२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी लिया और चीनस्थान की ओर जहाज को चलाया...जलमार्ग होने से (चारों ओर) सारा जगत् जलमय सा प्रतीत होता था। फिर हमलोग **चीनस्थान** पहुँचे। वहाँ व्यापार कर के मैं **सुवर्णद्वीप** गया। पूर्व और दक्षिण दिशा के पत्तनों के प्रवास के बाद कमलपुर (ख्मेर), यवद्वीप (जवद्वीप—जावा) और सिंहल (सिलोन—लंका) में और पश्चिम में बर्बर (झांझीबार?) और यवन (अलेकझांड्रिआ)[२७] में व्यापार कर, मैंने आठ कोटि धन पैदा किया.....जहाज में मैं सौराष्ट्र के किनारे जा रहा था तब किनारा मेरी दृष्टिमर्यादा में था उसी समय झंझावात हुआ और वह जहाज नष्ट हुआ। कुछ समय के बाद एक काष्ठफलक मेरे हाथ आ गया और (समुद्र के) तरंगों की परम्परा से फेंकाता हुआ मैं उस अवलम्बन से जी बचाकर सात रात्रियों के बाद आखिर **उम्बरावती–वेला** (वेला=खाड़ी) के किनारे पर डाला गया। इस तरह मैं समुद्र से बाहर आया।"[२८]

यह ब्यान महत्त्व का है। प्रियंगुपट्टण बंगाल की एक प्राचीन बन्दरगाह थी। वहाँ से चारुदत्त चीन और हिन्द-एशिया की सफर करता है। चीन से सुवर्णद्वीप जाता है और पूर्व और दक्षिण के बन्दरगाहों, व्यापारकेन्द्रों में सोदा कर ख्मेर, वहाँ से यवद्वीप और फिर वहाँ से सिंहल को जाता है। इस तरह चीन और ख्मेर के बीच में सुवर्णद्वीप होना सम्भवित है।

वसुदेवहिण्डि की रचना बृहत्कल्पभाष्य से प्राचीन है।[२९] वसुदेवहिण्डि अन्तर्गत चारुदत्त के बयान से प्रतीत होता है कि जैन ग्रन्थकार इन पूर्वीय देशों से सुपरिचित थे। बृहत्कल्पभाष्य-गाथा में "सुवण्ण" शब्द-प्रयोग से ग्रन्थकार की अपनी सूत्रात्मक शैली का काम चल जाता है क्योंकि लिखने और पढ़नेवाले इसके मतलब से (सुवण्ण शब्द से सूचित सुवर्णभूमि अर्थ से) सुपरिचित थे। और उत्तराध्ययननिर्युक्ति तो स्पष्ट रूप से सुवर्णभूमि का निर्देश करती है।

सुवर्णभूमि के अगरु के बारे में कौटिल्य के निर्देश (अर्थशास्त्र, २, ११) का उल्लेख पहिले किया गया है। मिलिन्दपण्ह भी, समुद्रपार तक्कोल, चीन, सुवर्णभूमि के बन्दरगाहें, जहाँ जहाज इकट्ठे होते हैं, का उल्लेख करता है।[३०]

निद्देस में सुवर्णभूमि और दूसरे देशों की जहाजी मुसाफरी का निर्देश है। महाकर्म-विभङ्ग में देशान्तर-विपाक के उदाहरण में महाकोसली और ताम्रलिपि से सुवर्णभूमि की ओर जहाजी रास्ते से जानेवाले व्यापारियों को होती हुई आपत्तियों की बातें हैं। सिलोनी महावंश में थेर उत्तर और थेर सोण के सुवर्णभूमि में धर्मप्रचार का निर्देश है।[३१]

---

२७. यवन असल में आयोनिआ के लिए प्रयुक्त था। जिस समय वसुदेवहिण्डि और गुणाढ्य की बृहत्कथा रची गई उस समय यवन से अलेक्झाण्ड्रिया उद्दिष्ट होगा।

२८. **वसुदेवहिण्डि**, भाग १, पृ० १३२–१४६.

२९. आगम प्रभाकर मुनिश्री पुण्यविजयजी की प्रस्तावना, **बृहत्कल्पसूत्र**, विभाग ६.

३०. **मिलिन्दपण्ह** (भाषान्तर), सेक्रेड बुक्स ऑफ ध इस्ट सिरीझ, वॉल्युम ३६, पृ. २६६—
—"As a ship-owner, who has become wealthy by constantly levying freight in some sea-port town, will be able to traverse the high-seas and go to..... Takkola or Cīna....or Suvarṇabhumi or any other place where ships may congregate....."

देखो, डा० सिल्वाँ लेवि, E'tudes Asiatiques, वॉ० २, पृ० १–५५, ४३१.

३१. **महाकर्म–विभङ्ग**, डा० सिल्वाँ लेवि प्रकाशित, पृ० ५० से आगे देखो, **महावंश**, गाइगर प्रकाशित, पृ० ८६ **सुवर्णद्वीप** (डा० रमेशचन्द्र मजुमदार कृत) विभाग १, पृ० ६–४०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रीक-लाटिन ग्रन्थकार भी सुवर्णभूमि, सुवर्णद्वीप का उल्लेख करते हैं। क्रिसी (Chryse जिसका अर्थ सुवर्ण होता है) द्वीप का, पोम्पोनिअस मेल (ई० स० ४१–५४) अपने De Chorographia में उल्लेख करता है। प्लिनी, टॉलेमी वगैरह ग्रन्थकारों के बयानों में, और पेरिप्लस में भी, इसका उल्लेख है। टॉलेमी सिर्फ क्रिसी-द्वीप के बजाय Chryse Chora (सुवर्णभूमि) और Chryse Chersonesus (सुवर्ण-द्वीपकल्प) का निर्देश करता है।

अरबी ग्रन्थकारों के पिछले बयानों को यहाँ विस्तारभय से छोड़ देंगे। किन्तु इन सब साक्षियों की विस्तृत समीक्षा के बाद डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार ने जो लिखा है वही देख लें। आप लिखते हैं—

"The Periplus makes it certain that the territories beyond the Ganges were called Chryse. It does not give us any means to define the boundaries more precisely, beyond drawing our attention to the facts that the region consisted both of a part of mainland as well as an island, to the east of the Ganges, and that it was the last part of the inhabited world. To the north of this region it places "This" or China. In other words, Chryse, according to this authority, has the same connotation as the Trans-Gangetic India of Ptolemy, and would include Burma, Indo-China and Malaya Archipelago, or rather such portions of this vast region as were then known to the Indians. Ptolemy's Chryse Chersonesus undoubtedly indicates Malaya Peninsula, and its Chryse Chora must be a region to the north of it. Now we have definite evidence that a portion of Burma was known in later ages as Suvarṇabhūmi. According to Kalyāṇi Inscriptions (Suvarṇabhūmi-raṭṭa-saṁkhāta Rāmaññadesa), Rāmaññadesa was called Suvarṇabhūmi which would then comprise the maritime region between Cape Negrais and the mouth of the Salvin.....There can also be hardly any doubt, in view of the statement of Arab and Chinese writers, and the inscription found in Sumātrā itself, that the island was also known as Suvarṇabhūmi and Suvarṇadvīpa.....There are thus definite evidences that Burma, Malaya Peninsula and Sumātrā had a common designation of Suvarṇabhūmi, and the name Suvarṇadvīpa was certainly applied to Sumātrā and other islands of the Malaya Archipelago."[32]

इस तरह डा० मजुमदार के अन्वेषण से बर्मा, मलय द्वीपकल्प, सुमात्रा और मलय द्वीपसमूह से अभी पिछाने जाते प्रदेशों के लिए सुवर्णभूमि शब्द प्रचलित था, और विशेष सुमात्रा और मलयसामुद्रधूनि (Malaya Archipelago) का द्वीपसमूह सुवर्णद्वीप कहा जाता था।

बृहत्कल्पसूत्र की भाष्य-गाथा में, और उत्तराध्ययननिर्युक्ति में "**सुवण्ण**" शब्द है जिससे सुवर्ण-भूमि या सुवर्णद्वीप दोनों अर्थ घटमान होते हैं। किन्तु चूर्णिकार और टीकाकार (मलयगिरि) जैसे बहुश्रुत विद्वानों ने अपने को प्राप्त आधारग्रन्थ और प्राचीन-परम्परागत ज्ञान के अनुसरण में **सुवर्णभूमि** अर्थ दिया है। इस लिए कालकाचार्य दक्षिण-बर्मा, उसके पूर्व के और दक्षिण के प्रदेशों में विचरे थे ऐसा अर्थ घटाना ठीक होगा। वहाँ से आगे वे कहाँ तक गये, और "अज्ज कालग"ने शेष जीवन में क्या क्या किया,[33]

३२. डा० रमेशचन्द्र मजुमदार, **सुवर्णद्वीप**, भाग १, पृ० ४८.

३३. आर्य कालक के शेष जीवन के बारे में अगर भाष्यकार और चूर्णिकार को कुछ और भी पता होगा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहाँ कहाँ विहार किया इत्यादि बातें हमारे सामने उपस्थित न होने से यह खयाल करना कि अनाम (चम्पा)में कालाचार्य (कालकाचार्य) के जाने की परम्परा निराधार है या वह कालक-पर की नहीं हो सकती यह शंका निरर्थक होगी। और जैसा आगे बताया है, अज्ज कालक के ब्राह्मणकुल में जन्म होने की जैन परम्परा, कालक को निमित्त और मन्त्रज्ञान होने की परम्परा, वटवृक्ष के नीचे रहने की पंचकल्पभाष्य की ग्वाही इत्यादि से कालक के अनाम जाने के अनुमान को पुष्टि मिलती है। उत्पलभट्ट की टीका की हस्तप्रतों में वङ्कालक से यदि वङ्का से कालक के सम्बन्ध का निर्देश हो तब तो इसको और भी पुष्टि मिलती है।

कालक के व्यक्तित्व को ठीक समझा जाय तब प्रतीत होगा कि उनके लिए यह सब करना शक्य था। वहाँ से वे टोन्किन (दक्षिण चीन) गये यह अनाम (चम्पा) की उस परम्परा का कहना है। जो कालक सिन्धु के उस पार शकस्थान-शककूल-पारसकूल को गये सो कालक पूर्व में बंगालसे बर्मा होकर इन सब प्रदेशों में भी गये यह समझने में कोई असङ्गतिदोष नहीं रहता।

मगध से आगे जैनधर्म के क्रमशः विस्तार के इतिहास को विना देखे यह वस्तुस्थिति सम्भवित न लगेगी। महावीर गये थे राढ़ा में—पश्चिमी बंगाल में। वह प्रदेश अनार्यों से, असंस्कृत जनों से भरा पड़ा था। महावीरको वहाँ काफी उपसर्ग सहन करने पड़े। वे राढ़ा या लाढ़-वासी लोग, जिनको हम primitive peoples कहते हैं, वैसे थे। पूर्वीय प्रदेशों में बर्मा, आसाम, सयाम, हिन्दी-चीन, मलाया इत्यादि देशों में नाग इत्यादि जाति की प्रागैतिहासिक असंस्कृत प्रजाओं में भारतीय संस्कृति ने जा कर अपने संस्कार फैलाये। यह तो चम्पा, कम्बोज़ (कम्बोड़िया) इत्यादि के इतिहास से सुप्रतीत है। प्राचीन काल में दक्षिण में जैसे अगत्स्य बगैरह ने यह कार्य किया, पूर्वीय प्रदेशों की ओर महावीर की नज़र दौड़ी। सम्भव है कि वे बंगाल की पूर्वीय सीमा तक (शायद बर्मा सरहद तक) गये। राढ़ा और उसके प्रदेशों में महावीर-विहार का विस्तृत बयान ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

महावीर के अनुगामी स्थविरों ने यह कार्य चालू रक्खा। तब ही तो हम स्थविरावली में ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष और पुण्ड्रवर्द्धन की शाखाओं के निर्देश पाते हैं। छेदसूत्रकार स्थविर आर्य भद्रबाहु (महावीर निर्वाण वर्ष १७०) नेपाल को गये थे यह भी इसी प्रवृत्ति का सूचक है। पञ्चकल्पभाष्य में गाथा है—"वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं सयलसुयनाणिं"—इत्यादि। यहाँ "पाईणं" का 'प्राचीन-गोत्रीय' ऐसा अर्थ पिछले ग्रन्थ-कारों ने बतलाया है और "प्राचीनो जनपदः" ऐसा कहते हैं[३४]। पाहरपुर (बंगाल) से उत्खनन में गुप्त-कालीन ताम्रपत्र-दानपत्र मिला है जिस में पञ्चस्तूपान्वय (सम्भवतः मथुरा का) के जैनाचार्यों के वहाँ तक के विहार की साक्षी मिलती है।[३५]

कम से कम गुप्तराजाओं के शासनकाल तक पूर्वीय भारत में जैन धर्म का प्रचार चालू रहा। फिर दूसरे दूसरे किन्ही राजकीय प्रवाहों के प्रभाव से जैन सङ्घ का जमाव पश्चिम और दक्षिण भारत की ओर बढ़ता गया। पूर्व-भारत में वर्तमान सराक (श्रावक) जाति के लोग प्राचीन श्रावक (जैन) थे ऐसा कहा जाता है।

किन्तु अपने विवरणात्मक ग्रन्थ में उन बातों का प्रसंग उपस्थित न होने से (अनौचित्य समझ कर) वे कुछ आगे न लिख सके। दत्त वाली घटना के अन्त में कहावली-कार सिर्फ इतना ही लिखते हैं: "कालयसूरि वि विहिणा कालं काऊण गओ देवलोगं।" शायद कालक का शेष जीवन इन पूर्वीय प्रदेशों में गुजरा। इस विषय में निश्चयात्मक कुछ कहना शक्य नहीं।

३४. इस विषय में देखिये, **बुलेटिन ऑफ धे प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युझिअम**, वॉ० १ नं० १, पृ० ३०-४०.

३५. **एपिग्राफिका इन्डिका**, वॉ० २०, पृ० ५६ से आगे; **हिस्टरी ऑफ बेन्गाल**, वॉ० १, पृ० ४१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह हम देखते हैं कि महावीर-स्वामी के पश्चात् करीब पाँचसौ वर्ष में दूसरे सम्प्रदायों के साथ जैनों ने भी पूर्व में और उत्तरपूर्व में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के प्रयत्न किये होंगे, और बंगाल में ई० स० की पाँचवी शताब्दी तक जैनों के वह प्रयत्न चालू थे। अतः इससे भी पूर्व में बर्मा, अनाम इत्यादि में तथा सुवर्णभूमि से पिछाने जाते प्रदेशों में ऐसा प्रयत्न होने का अगर प्राचीन जैन ग्रन्थों का प्रमाण मिले तब वह असङ्गत और अशक्य नहीं लग सकता। कम से कम बर्मा, आसाम और नैपाल में जैनाचार्यों के जाने का अनुमान तो हरेक को ग्राह्य होगा। दक्षिण बर्मा से पैदल रास्ते से जैनाचार्य, आगे भी, सुवर्णभूमि से पिछाने जाते प्रदेशों में, जा सकते थे और गये होंगे।

आर्य कालक के समय के बारे में आगे विचार होगा। उनका समय, जैसा कि आगे देखेंगे, ई० स० पूर्व १६२ से १५१ या ई० स० पूर्व १३२ से ६१ की आसपास का है: उस समय में भारतीय व्यापारी इन प्रदेशों में जाते थे यह हम देख चूके हैं। डॉ० मजुमदार लिखते हैं—

"The view that the beginnings of Indian Colonisation in South-East Asia should be placed not later than the first century A. D. is also supported by the fact that trade relations between India and China, by way of sea, may be traced back to the second century B.C.[36] As the Chineses vessels did not proceed beyond Northern Annam till after the first century A.D., it may be presumed that the Indian vessels plied at least as far as Annam even in the second century B.C. As the vessels in those days kept close to the coast, we may conclude that even in the second century B.C. Indian mariners and merchants must have been quite familiar with those regions in Indo-China, and Malaya Archipelago, where we find Indian colonies at a later date."[36A]

मगर जैनाचार्यों की जहाजी सफर का, समुद्रयान का, अनुमान करना मुश्किल है। किन्तु वे खुश्की रास्ते से जा सकते थे। इस में भी बड़ी बड़ी नदियाँ तो आती ही हैं। बड़ी बड़ी नदियों के पार करने में जैन श्रमण नाव में बैठ सकते हैं। इस विषय की विस्तृत चर्चा बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ४ सूत्र ३२ से आगे, और इन सूत्रों की भाष्यगाथाओं (गाथा ५६२०) में मिलती है। गङ्गा या शोण (और सिन्धु, नर्मदा) जैसी भारतीय बड़ी नदियाँ पार करनेवाले जैनाचार्यों ने ब्रह्मपुत्रा, ईरावदी जैसी नदियाँ भी नाँव में पार की होगी। इस में कोई प्रतिबंध नहीं है। किनारा सामने नजर में आ सके ऐसे जलमार्ग में नाव का उपयोग हो सकता है। बड़ी बड़ी ऐसी नदियों के रास्ते में भी ऐसी कई जगह (या पहाड़ी दून प्रदेश) होती हैं जहाँ जल खूब गहरा होता है लेकिन सामनेवाला किनारा नजरों से दूर नहीं होता। और इन्हीं नदियो में ऐसे भी जलमार्ग होते हैं जहाँ पाँव ऊपर ऊठा कर चल कर भी उनको पार कर सकते हैं जैसी कि बृहत्कल्पसूत्रकार "एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा" इत्यादि शब्दों में अनुज्ञा देते हैं। इस तरह अगर खुश्की रास्ते से, बीच में आनेवाली नदियाँ को नाव में बैठकर या चलकर पार करके, दक्षिण बर्मा, चम्पा, मलाया इत्यादि प्रदेशों में जाना शक्य होता था तब अज्ज कालग, सागर श्रमण और दूसरे जैन श्रमणों का सुवर्ण-भूमि-गमन धर्मविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध नहीं था।

---

३६. **तोउंग पओ** (T'oung Pao), १३ (१६१२), पृ० ४५७–६१; इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १४, पृ० ३८०.

३६ अ. डा० आर० सी० मजुमदार, **अेन्शिअन्ट इन्डिया कॉलनायझेशन इन साउथ-ईस्ट एशिया** (१६५५), पृ० १३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहत्कल्पसूत्र के कर्ता है प्राचीन गोत्रीय या प्राचीन जनपद के स्थविर आर्य भद्रबाहु। अपने बनाये हुए इस छेदसूत्र के चतुर्थ उद्देश में साधुओं के जलयान की चर्चा करते हुए आप लिखतें हैं—"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंचमहण्णवाओ महानदीओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासा दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा। तं जहा—गंगा, जउणा, सरउ, कोसिया मही।" इस सूत्र के ऊपर निर्युक्ति भी देखनी चाहिये—

पंचण्हं गहणेणं सेसा वि उ सूइया महासलिला।
तत्थ पुरा विहरिंसु य, ण य तातो कयाइ सुक्खंति ॥ ५६२० ॥[३७]

फिर आगे इसी विषय की विस्तृत चर्चा आती है। नावसन्तरण के भिन्न भिन्न दोष दिखलाते हुए बृहत्कल्प-सूत्र के (निर्युक्तिकार या) भाष्यकार कहते हैं—

वीरवरस्स भगवतो, नावारूढस्य कासि उवसग्गं।
मिच्छदिट्ठि परद्धो, कंबल-संबलेहिं तारिओ भगवं ॥ ५६२८ ॥[३८]

भगवान् महावीर भी नाव में चढ़े थे इस की प्रतीति आवश्यक-निर्युक्ति गाथा ४६६–७१[३९] से भी होती है।

उपर्युक्त भाष्यगाथाओं में प्रत्यनीकादि दोषों की चर्चा और इनसे बचने के लिए जहाँ तक हो सके, स्थल-रास्ता (खुश्की-रास्ता) ग्रहण करने के उपदेश के साथ ही नाव से या चलते ही नदी पार करने की चर्चा है। जहाँ जल की गहराई बिलकुल कम हो और जानू से भी नीचे जल हो, मतलब कि जहाँ पाँव को जल से ऊपर ऊठा कर फिर आगे रख कर नदी में चल सकें वहाँ कीचड़ से बच सकते हैं और गिरने की या जीवहिंसा की सम्भावना अतीव कम हो जाती है। किन्तु इस सारी चर्चा में नावारोहण—नाव से नदी पार करने का—सम्पूर्ण प्रतिबन्ध नहीं रक्खा गया।

कालकाचार्य और सागर-श्रमण समुद्रमार्ग से—जहाजी रास्ते से—नहीं किन्तु खुश्की रास्ते से गये होंगे ऐसा हमारा खयाल है। और बृहत्कल्पभाष्य की चूर्णि और टीका के वृत्तान्तों का ध्वनि यही है। रास्ते में कालक के शिष्यों को लोग पूछते हैं, "ये कौन से आचार्य जा रहे हैं?" इसका मतलब यही है कि वे खुश्की रास्ते से गये। ईसा के पूर्व की शताब्दियों में खुश्की रास्ता ज्यादा इस्तेमाल होता था। जहाजी व्यापार क्रमशः बढ़ा होगा। खुश्की रास्ते थे जो चीन (दक्षिण चीन) तक ले जाते थे। खुश्की रास्ते के विषय में डा० मजुमदार लिखते हैं—

"From early times there was a regular trade-route by land between Eastern India and China through Upper Burma and Yunnan. We know from Chinese Chronicles that in the second century B.C. merchants with their ware travelled from China across the whole of North India and Afghanistan to Bactria. Through this route came early Chinese priests for whom, according to I-tsing, an Indian king built a temple in the third or fourth century A.D. From different points along this route one could pass to Lower Burma and other parts of Indo China, and a Chinese writer

---

३७. **बृहत्कल्पसूत्र,** उद्देश ४, सू० ३२, विभाग ५, पृ० १४८७, गाथा ५६२०.

३८. **वही,** पृ० १४८९, गाथा, ५६२८.

३९. **आवश्यक-सूत्र, हारिभद्रीय वृत्ति,** पत्र १९०–१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Kia Tan, refers to a land route between Annam and India (Journal Asiatique, II-XIII, 1919, p. 461).[40]

श्रावकों के लिए तो सागर-गमन और नावारोहण निषिद्ध मालूम नहीं होता है।[41] वसुदेवहिण्डि-अन्तर्गत चारुदत्त-कथानक का भी यही ध्वनि है, व्यापार के लिए जैन श्रावक द्वीपान्तरों में जहाजों से जाते थे। ज्ञाताधर्मकथासूत्र में भी रत्नद्वीप पहुँचे हुए वणिकों का प्रसंग है। अगर किसी प्रदेश में जैन गृहस्थों की वसति न हो तो वहाँ जैन साधु साध्वियों का विहार अतीव कठिन होता है क्यों कि आहार के बारे में नियमों का पालन करना मुश्किल हो जाता है। सागरश्रमण सपरिवार सुवर्णभूमि में थे ऐसे निर्देश का मतलब यह भी है कि वहाँ जैन गृहस्थ (साहसिक सोदागर) ठीक ठीक संख्या में मौजूद थे। इस तरह इस समय में (ई० स० पूर्व १५१–९०) भारतीय व्यापारियों का सुवर्णभूमि में जाना शुरू हो चूका था। व्यापार के लिए हरेक सम्प्रदाय के वणिक् जाते थे—जैन, बौद्ध या हिन्दू कोई भी हो। जैनाचार्य के वहाँ सपरिवार विहार के इस विश्वसनीय बयान का निष्कर्ष यह है कि ईसा के पूर्व की पहली-दूसरी शताब्दियों में भारतीय सोदागर और भारतीय संस्कृति के सुवर्णभूमिगमन का हमें एक और प्रमाण मिलता है।

धर्म के प्रचार के लिए सिद्धि—विद्यासिद्धि या मन्त्रसिद्धि—इत्यादि के प्रयोग करने का जैनाचार्यों के लिए निषिद्ध नहीं था। ऐसी प्रभावना के कई दृष्टान्त मिलते हैं और ऐसे आचार्यों को प्रभावक आचार्य कहते हैं। आर्य वज्र, आर्य खपुट, आर्य पादलिप्त जैसे प्राचीन आचार्यों के ऐसे कार्य सङ्घ को मान्य रहे थे। साध्वी को बचाने के लिए आर्य कालक ने जो किया वह भी धर्मविरुद्ध नहीं गिना गया। शककूल में और भारत में भी कालकाचार्य ने अपने विद्या, मंत्र और निमित्त-ज्ञान का परिचय दिया। ऐसे बड़े बड़े आचार्यों को प्रभावक आचार्य कहते हैं। ऐसे बहुश्रुत आचार्यों के आचरण में[42] शङ्का की बात तो दूर रही, वे आगे दूसरे आचार्यों और मुनिओं के मार्गदर्शक भी गिने जाते हैं। आर्य वज्र, आर्य पादलिप्त, आर्य कालक आदि स्थविर प्रभावक आचार्य माने गये और प्रभावक-चरित्र में इनके चरित्र भी दिये गये। प्रभावशाली, बहुश्रुत, वृद्ध जैन आचार्य धर्माचरणविषयक मामले में प्रमाणभूत गिने जाते हैं और जहाँ शास्त्रों का पूरा खुलासा अनुपलब्ध हो या शास्त्रवचन समझ में न आवे वहाँ ऐसे पट्टधरों, युगप्रधानों, स्थविरों के मार्गदर्शन और कार्य प्रमाणभूत होते हैं।

श्रुतधर अनुयोगकार स्थविर आर्य कालक साध्वी को बचाने के लिए पारसकूल-शककूल गये और वहाँ से शकों को ले आये और गर्दभ का उच्छेद करवाया। आज तक आर्य कालक का यह कथानक जैन समाज में (विशेषतः श्वेताम्बर जैन सङ्घ में) अतीव प्रचलित है। कालक-कथा की कई सचित्र प्राचीन हस्तप्रतें मिलती हैं। सचित्र प्रतियों में कल्पसूत्र के साथ कालककथा की प्रतियाँ मिलती रहती हैं, यह पर्यूषणापर्वतिथि के साथ कालक का सम्बन्ध होने के कारण होगा। किन्तु शकों को लाने वाले कालक को इतना सन्मान मिलता है यही सूचक है।

---

४०. डॉ० आर० सी० मजुमदार, **एन्शिअन्ट इन्डिअन कॉलनाइझेशन इन साउथ-ईस्ट एशिआ** (बडोदा १९५५), पृ० ४.

४१. श्री वीरचन्द गांधी जब अमरिका सर्वधर्मपरिषद में जा कर आये तब जैन सङ्घ ने उनको प्रायश्चित्त करने का कहा। उस समय सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री विजयानन्दसूरिजी (श्री आत्मारामजी महाराज) ने यही अभिप्राय दिया कि उनका समुद्रपार जाना निषिद्ध नहीं था। श्री आत्मारामजी महाराज का यह पत्र गुजराती साप्ताहिक '**जैन**' (भावनगर) के ता० २८–११–१९५३ के अङ्क में प्रकाशित हुआ है।

४२. जैसे कि आर्य वज्र चैत्यपूजा के लिए पुष्प ले आये थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्य कालक के जीवनकाल में उनके शकों को लाने के कार्य के विरुद्ध (और दूसरे कार्यों के विरुद्ध) कुछ आन्दोलन हुआ होगा। मन्त्र-विद्या और निमित्त के प्रयोग आम तौर पर जैन साधुओं के लिए उचित नहीं माने गये हैं। विद्यापिण्ड को तो निषिद्ध ही माना गया है। और फिर परदेश से शकों को इस देश में लाने का कार्य बहुत से लोगों को (जैनधर्मावलम्बी को भी) पसन्द न भी हो।

गर्दभराजोच्छेदक कालकाचार्य के जीवन में साहस (adventure) का—पराक्रम का—तत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है। वे कोई असाधारण व्यक्ति थे। उन्होंने जब देखा कि सूत्र नष्ट होते जा रहे हैं तब उन्होंने अनुयोग-ग्रन्थों की रचना की। बृहत्कल्पचूर्णि और टीका के अनुसार उनके अनुयोग को उनका शिष्यसमुदाय सुनता नहीं था। क्यों? अनुयोग के यहाँ दो अर्थ हैं—उपदेश-प्रवचन और आर्य कालक के रचे हुए अनुयोग ग्रन्थ जिनका व्याख्यान आप करते होंगे। हम सुनते हैं कि आर्य कालक के शिष्य प्रव्रज्या में स्थिर नहीं रहते थे। क्यों? क्या इन सब निर्देशों से यही सूचित नहीं होता कि कालक के क्रान्तिकारी असाधारण खयाल और कार्य, पुराने रास्ते को छोड़ कर नये रास्ते पर चलने के साहस इत्यादि से सङ्कुचित मनोवृत्ति वाले और प्रगतिविरोधी तत्त्व नाराज़ थे? हरेक मज़हब की तवारिख में हम देखते हैं कि बड़े बड़े महात्माओं को ऐसे विरोध अपने जीवन में सहन करने पड़े यद्यपि आगे चलकर वे युगप्रधान माने गये। क्राइस्ट, महात्मा गांधी, तुकाराम, मीरां, कबीर आदि अनेक दृष्टान्त हमारे सामने मौजूद हैं। कालकाचार्य को भी ऐसी विपत्तियों का सामना करना पड़ा होगा।

जैन तवारिख में भी हम देखते हैं कि आर्य सुहस्ति के आचरण से आर्य महागिरि नाराज हुए थे। आर्य वज्र जब पूजा के लिए पुष्प ले आये तब उनका यह कार्य आम तौर से साधुओं के लिए उचित न था। उनका भी विरोध हुआ होगा। शकों को लानेवाले, आजीविकों से निमित्त पढ़नेवाले, निमित्तकथन और विद्याप्रयोग करनेवाले, पर्यूषणापर्व की पञ्चमी तिथि को बदल कर चतुर्थी को यह पर्व मनानेवाले, नये अनुयोग-ग्रन्थ रचनेवाले आर्य कालक के सामने ज़रूर विरोधी तत्त्व खड़े हुए होंगे।[४३] मगर आर्य कालक डरनेवाले थे ही नहीं। उनकी प्रकृति कोई असाधारण किसम की थी। जब उन्होंने देखा कि अपने ही शिष्य अपना ही अनुयोग सुनते नहीं थे तब उनको निर्वेद अवश्य हुआ मगर वे बैठे रहनेवाले या दबनेवाले नहीं थे। उन्होंने नये कार्यप्रदेश की ओर दृष्टि डाली। वे सुवर्णभूमि जा पहुँचे जहाँ भारतीय व्यापारी गये हुए थे ही, जहाँ उनका प्रशिष्य भी भेजा हुआ था ही और जहाँ भारत के अन्य धर्मावलम्बी सोदागर और साधु भी पहुँच चूके होंगे।

शङ्का यह उपस्थित होगी कि अगर कालक के सुवर्णभूमिगमनवाली परम्परा सच्ची है तो फिर हमें सुवर्णभूमि में क्यों जैनधर्म के अवशेष मिलते नहीं? लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं हो सकता कि भविष्य में मिलना असम्भव है। हम यह तो जानते ही हैं कि ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी से लेकर भारतीय संस्कृति के अवशेष इन प्रदेशों में मिले हैं और भारतीय संस्कृति का ठीक ठीक प्रचार इस समय में इन प्रदेशों में हो चूका था। इस समय में वहाँ जानेवाले व्यापारियों में जैन भी अवश्य होंगे यह तो सर्व-

---

४३. हमारे खयाल से कालक के शकों को लानेवाली घटना से ही ज्यादा विरोध हुआ होगा, परदेशी शासन को पसन्द करे ऐसी प्रजा गिरी हुई न थी। और न कोई भी प्रजा परदेशी-शासकों को लानेवाले को सन्मान देती है। साध्वी को बचाने के लिये जो करना पड़ा वह प्रभावना का कार्य था पर इस कार्य में राजकीय स्वार्थ न था इस लिए विरोध सार्वत्रिक न होगा। विरोध होने पर भी श्रुतधर स्थविर आर्य कालक को समझनेवाले, उनका सन्मान करनेवाले भी होंगे ही। कालक देशद्रोही नहीं गिने जा सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्मत होगा। सातवीं सदी में हरिभद्रसूरि ने अपनी समराइच्चकहा में भी व्यापारियों के परदेशगमन के दिये हुए बयान भी यह सूचित करते हैं कि जैन सोदागर भी जाते थे। और इनके भी कोई अवशेष, जैन-प्रतिमा इत्यादि मिलना असम्भव नहीं। किन्तु हमें याद रखना चाहिये कि आर्यकालक और सागरश्रमण जैसे साहसिक स्थविरों की परम्परा भी न रही जो सुवर्णभूमि को जायँ। और जब मगध और बंगाल में जैन सङ्घ को आपत्तियाँ आईं तब जैनसाधु ज्यादा करके मध्य, पश्चिम और दक्षिण भारत को अपने केन्द्र बनाते रहे। सुवर्णभूमि का खुश्की रास्ता था पर मगध और बंगाल की प्रतिकूल परिस्थिति के कारण बर्मा जानेवाले जैन साधुओं की परम्परा टूट गई।

२
कालकाचार्य का समय

अब हमें यह सोचना चाहिये कि कालकाचार्य कब सुवर्णभूमि में गये। कालकाचार्य के बारे में विद्वानों ने खूब चर्चा की है। जैन सम्प्रदाय में अनेक कालकाचार्य-कथानक मिलते हैं। डा० डब्ल्यु० नॉर्मन ब्राउन ने अपने "स्टोरि ऑफ कालक" नामक ग्रन्थ में ऐसे कई कथानकों, और कहावलीअन्तर्गत कालक कथानक और चूर्णिग्रन्थों में से भी कितनेक उल्लेख उद्धृत किये हैं। डा० ब्राउन ने इस विषय में पूर्वमें हुई चर्चा की सूची भी दी है। मुनिश्री कल्याणविजयजी ने प्रभावक-चरित्र के गुजराती भाषान्तर की प्रस्तावना में कालकाचार्य के विषय में चर्चा की है। और फिर द्विवेदीअभिनन्दन ग्रन्थ में कितने कालकाचार्य हुए और कब इस विषय में मुनिश्री कल्याणविजयजी ने विस्तार से लिखा है। श्री साराभाई नवाब प्रकाशित कालकाचार्यकथा में इन सब कथानकों-चूर्णियों के (पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि को छोड़ कर) पाठ दिये हैं किन्तु चूर्णियों के कुछ संदर्भ संक्षिप्त हैं। खास कर के यवराज, गर्दभ और अडोलिया वाला, जिसका कालक से ज्यादा सम्बन्ध न मान कर संक्षेप किया है। इस प्रकाशन को सम्पादित करने वाले पं० अम्बालाल शाहने मुनिश्री कल्याणविजय जी के प्रतिपादनों का सारांश दिया है। आशा है कि इन प्रकाशनों को सामने रख कर विद्वद्गण आगे की चर्चा को पढ़ेंगे।

कालकाचार्य के विषय मे उपलब्ध सब निर्देशों (संदर्भों) को दो विभाग में बाँटना आवश्यक होगा। एक तो है निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और कहावली का विभाग जो दूसरे विभाग से प्राचीन है और प्राचीनतर परम्पराओं का बना हुआ है। इसको ज्यादा विश्वसनीय मानना चाहिये। दूसरा है नवाब के प्रकाशन में दिया हुआ कालकाचार्य कथा प्राकृत विभाग, जिसमें नं. ३ वाले कहावली से लिये हुए संदर्भ को पहले विभाग में शामिल करना होगा और इस से अतिरिक्त सब कथानकों को दूसरे विभाग में।

कहावली को दूसरे विभाग से प्राचीन गिननी चाहिये। भाषा की दृष्टि से वह चूर्णियों से ज्यादा मिलती है। और इसमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के बारे में ग्रन्थकार ने "**संपयं** देवलोयं गओ" ऐसा निर्देश किया है। अतः कहावलीकार और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के बीच में पाँच शताब्दि का अन्तर मान लेना उचित नहीं।'[४४]

पहले विभाग से सम्बन्ध रखनेवाली हैं कल्पसूत्र-स्थविरावली, और नन्दीसूत्र की पट्टावली। दूसरी पट्टावलियों से ये दोनों ज्यादा प्राचीन हैं। दुःषमाकाल श्रीश्रमणसंघस्तोत्र और हेमचन्द्राचार्य की स्थविरावली

४४. विशेष चर्चा के लिए देखिये, **जैन सत्यप्रकाश** (अहमदाबाद), वर्ष १७ अंक ४ (जान्युआरी, १९५२), पृ० ८६–९१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी इस विभाग से ज्यादा सम्बन्ध रखनेवाले हैं। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि इत्यादि दूसरे विभाग में हैं क्यों कि उन ग्रन्थकारों के लिए परम्परा ज्यादा विच्छिन्न रूप में थीं।

हम देखते हैं कि ज्यों ज्यों प्राचीन आचार्यों के साथ उत्तरकालीन ग्रन्थकारों का अधिक व्यवधान होता जाता है त्यों त्यों प्राचीन परम्परा की बातों का अधिक लोप होता जाता है। और पट्टावली जितनी अर्वाचीन उतनी ही अधिक अविश्वसनीय होती है। रत्नसञ्चयप्रकरण (विक्रम की १५-१६ शताब्दी) में चार कालकाचार्यों का समय निर्दिष्ट है। जब उनसे प्राचीन ग्रन्थकार तीन कालकाचार्यों का समय देते हैं। मेरुतुंग के सामने भी विच्छिन्न परम्परा थी और बहुत विरोधाभासवाली बातें भी इनकी लिखी हुई विचारश्रेणि में देखने मिलती है। मुनि कल्याणविजयजी ने अपने "वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना" के पृ. ५५-५७, पादनोंध ४७ में यह स्पष्ट रूप से बताया है।

ऐसी परिस्थिति में हमें प्रथम विभाग के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के आधार से ही छानबिन करके अनुमान करना ठीक होगा।

आर्य कालक के जीवन की घटनायें मुख्यतः सात हैं। दूसरे दूसरे संदर्भों में और कथानकों में ये सात घटनायें मिलती हैं, जैसा कि मुनि कल्याणविजय ने भी बताया है। वे घटनायें निम्नलिखित हैं—

(१) दत्त राजा के सामने यज्ञफल और दत्त मृत्यु-विषयक भविष्य-कथन (निमित्त कथन)।

(२) इन्द्र के सामने निगोद-व्याख्यान शक्र-संस्तुत निगोद-व्याख्याता आर्य कालक।

(३) आजीविकों से निमित्त पठन और तदनन्तर सातवाहन राजा के तीन प्रश्नों का निमित्त-ज्ञान से उत्तर देना।

(४) अनुयोगग्रन्थ-निर्माण।

(५) गर्दभ-राजा का उच्छेदन।

(६) प्रतिष्ठानपुर जा कर वहाँ सातवाहन की विज्ञप्ति से पर्यूषणा पर्वतिथि जो पञ्चमी थी उसके बजाय चतुर्थी करना।

(७) अविनीतशिष्य-परिहार और सुवर्णभूमि-गमन।

(१) तुरुविणी (या तुरुमिणी) नगरी के राजा जितशत्रु को प्रपञ्च से हठाकर कालक के भागिनेय दत्त ने राज्य लिया और बहुत यज्ञ किये। गर्व से दत्त ने कालकाचार्य को इन यज्ञों का फल पूछा। जब कालक ने कहा कि सात दिन में दत्त बूरी तरह मरेगा तब कालकाचार्य को कैद किया गया मगर ठीक वैसे ही बूरे हाल दत्त मारा गया जैसा कि कालक का कथन था। सत्य-कथन, सम्यक्-कथन के दृष्टान्त में यह कथा दी गई है।

(२) इस घटना में चमत्कार का तत्त्व ज्यादा होने से इसका ऐतिहासिक अंश पकड़ना मुश्किल है। कथा ऐसी है कि एक समय इन्द्र ने पूर्वविदेहक्षेत्र में विहरमान तीर्थङ्कर सीमन्धरस्वामी से निगोद-जीवों के विषय में सूक्ष्म निरूपण सुना। फिर इन्द्र ने पूछा तब उत्तर मिला कि उस समय भारत में ऐसा सूक्ष्म निरूपण करनेवाले सिर्फ कालकाचार्य थे। कुतूहल से इन्द्र ब्राह्मण के रूप में आर्य कालक के पास गया और पृच्छा करके निगोद-व्याख्यान इनसे सुना। बाद में इन्द्र ने अपना शेष आयुष्य कितना रहा है ऐसी जब पृच्छा की तब आचार्य ने अपने ज्ञान से देखा कि दो सागरोपम आयुष्य अभी उस ब्राह्मण के लिए शेष था जो इन्द्र का ही हो सकता है। अतः आचार्य ने कहा—"आप तो इन्द्र हैं।" प्रसन्न हो कर इन्द्र चला गया। कथा के चमत्कारिक तत्त्व को छोड़ दें तो इस में से दो बातें फलित होती हैं वह याद रखना चाहिये—एक है कालकाचार्य का निगोद-जीवों के बारे में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान और दूसरा है उनका ज्योतिषज्ञान-निमित्तज्ञान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३ और ४) प्रसङ्गों का वृत्तान्त हम पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि के आधार से देख चूके हैं। इन दोनों घटनाओं में आर्य कालक के निमित्तज्ञान का स्पष्ट निर्देश है और इनके अनुयोग-निर्माण का उल्लेख भी है। इनके लोकानुयोग में भी निमित्तशास्त्र था।

घटना (२) में आर्य कालक के निमित्तज्ञान का महत्त्व सूचित है ही। अतः (३) और (४) घटनाओं को भी (२) के साथ ही जोड़ना होगा। यज्ञफलकथनवाली घटना (१) में भी निमित्तज्ञान का महत्त्व बताया गया है। अतः घटना (१) से (४) एक ही कालक के जीवन की होनी चाहिये।

निगोदव्याख्याता आर्य कालक के विषय में मुनिश्री कल्याणविजयजी लिखते हैं:—"इनको निर्वाण से ३३५ वें वर्ष के अन्त में युगप्रधानपद मिला और ४१ वर्ष तक ये इस पद पर रहें, जैसा कि स्थविरावली की गाथा में कहा है।[४६] परन्तु विचारश्रेणि के परिशिष्ट में एक गाथा है जो इनका वी०नि० ३२० में होना प्रतिपादित करती है। पाठकों के विलोकनार्थ वह गाथा नीचे उद्धृत की जाती है—

सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण ॥ १ ॥

मालूम होता है कि इस गाथा का आशय कालकसूरि के दीक्षा समय को निरूपण करने का होगा।" आगे मुनिजी लिखते हैं—"रत्नसञ्चय में ४ संग्रहीत गाथाएं हैं, जिन में वीर निर्वाण से ३३५, ४५४, ७२०, और ९९३ में कालकाचार्यनामक आचार्यों के होने का निर्देश है। इन में पहले और दूसरे समय में होनेवाले कालकाचार्य क्रमशः निगोद व्याख्याता और गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य हैं।[४७] इसमें तो कोई सन्देह नहीं है पर ७२० वर्षवाले कालकाचार्य के अस्तित्व के बारे में अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला। दूसरे इस गाथोक्त कालकाचार्य को शक्र-संस्तुत लिखा है जो ठीक नहीं **क्योंकि शक्रसंस्तुत और निगोद-व्याख्याता एक ही थे जो पन्नवणाकर्ता और श्यामाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे और उनका समय वीरात् ३३५ से ३७६ तक निश्चित है।** इससे इस गाथोक्त समय के कालकाचार्य के विषय में सम्पूर्ण सन्देह है।"[४८]

मुनिजी उत्तराध्ययन-निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा (नं. १२०) को उद्धृत करते हैं—

"उज्जेणि कालखमणा, सागरखमणा सुवन्नभूमीए।
इंदो आउयसेसं पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥"
उत्तराध्ययन-सूत्र, विभाग १, (दे. ला. पु० नं. ३३, बम्बई १९१६), पृ० १२५–१२७.

इस निर्युक्ति-गाथा से स्पष्ट है कि निर्युक्तिकार के मत से सुवर्णभूमि जानेवाले, सागर के दादागुरु आर्यकालक और निगोद-व्याख्याता शक्र-संस्तुत आर्यकालक एक ही व्यक्ति हैं। किन्तु मुनिजी को यह मंजूर नहीं है, वे इस निर्युक्तिगाथा पर लिखते हैं—"इस गाथा में सागर के

४५. मुनि कल्याणविजय, **"वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना** (जालोर, वि० सं० १९८१), पृ० ६४, पादनोंध ४६.

४६. गाथा के लिए देखो, **वही,** पृ० ६१. यहाँ आर्यसुहस्ति के बाद **गुणसुंदर** वर्ष ४४ और उनके बाद निगोदव्याख्याता **कालकाचार्य** वर्ष ४१, उनके बाद **खंदिल** (संडिल या सांडिल्य) ३८ वर्ष तक युगप्रधान रहे ऐसा कहा गया है। संडिल के बाद रेवतीमित्र युगप्रधान रहे।

४७. रत्नसचयप्रकरण की गाथायें आगे दी गई हैं।

४८. **वीर निर्वाणसंवत् और जैन कालगणना** पृ० ६४–६५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दादागुरु कालकाचार्य के साथ इन्द्र का प्रश्न आदि होना लिखा है, गर्दभिल्लोच्छेदक, चतुर्थी पर्यूषणाकारक और अविनीत-शिष्य परिहारक एक ही कालकाचार्य थे, जो ४५३ में विद्यमान थे और श्यामाचार्य की अपेक्षा दूसरे थे। प्रस्तुत स्थविरावली की गाथा में प्रथम कालकाचार्य को निगोदव्याख्याता लिखा है जो कि इस विषय का एक स्पष्ट मतभेद है।"[४९]

वास्तव में मुनिजी के लिए उत्तराध्ययन निर्युक्ति के इस विधान को छोड़कर अन्य कल्पना करने का उचित नहीं है क्यों कि निर्युक्ति का प्रमाण मेरुतुङ्ग की और दूसरी मध्यकाली पट्टावलियों से प्राचीन और ज्यादा विश्वसनीय है। फिर भी यहाँ एक बात को देखना जुरूरी होगा कि **मुनिजी के खयाल से भी गर्दभिल्लोच्छेदक, अविनीतशिष्य-परिहारक (सुवर्णभूमि को जानेवाले) और चतुर्थी पर्यूषणाकारक कालकाचार्य एक ही व्यक्ति थे।**

(५) अब नं ५ आदि घटनायें देखें। शककुलों को भारत में ला कर गर्दभराजा का उच्छेद करने की कथा इतिहासविदों को सुप्रतीत है। वहाँ भी निमित्त और विद्याज्ञान का उपयोग होता है। हम देख चूके हैं कि बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में इस घटना का और नं. ७ की घटना का उल्लेख है मगर दोनों में से एक भी ग्रन्थकार इन दोनों घटनावाले कालक के भिन्न भिन्न होने का कोई सूचन नहीं देते। और जब उत्तराध्ययन-निर्युक्ति नं. ७ और नं. २ वाले कालकाचार्य को एक ही व्यक्ति मानती है तब नं. ५, नं. ७ और नं. २ वाले कालक एक ही हैं।

(६) नं. ६ वाली घटना में कहा गया है कि बलमित्र-भानुमित्र नामक अपने भागिनेय राजाओं से नाराज हो कर आर्य कालक प्रतिष्ठानपुर जाने को निकले। बलमित्र के पुरोहित ने जैन मुनियों को अकल्प्य आहार दिलवाना शुरू किया जिससे साधुओं को भूखे रहना पड़ा। अतः कालकाचार्य ने प्रतिष्ठानपुर जाने के लिए विहार किया। वहाँ के राजा सालाहण (सातवाहन—जो जैन धर्म की ओर, विशेषतः आर्यकालक की ओर, अभिरुचि रखता होगा) को आचार्य ने कहा कि भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी को पर्यूषणा पर्व करो। राजा ने कहा कि उस नगर में वह तिथि आम प्रजा में इन्द्र महोत्सव का पर्व मनाई जाती है इस लिए आचार्य की आज्ञानुसार पर्यूषणापर्व उस दिन मनाना मुश्किल होगा। राजा ने दूसरे दिन पर्व मनाने की अनुज्ञा माँगी। आर्य कालक ने कहा कि तिथि का अतिक्रम नहीं हो सकता अतः पूर्व दिन को—चतुर्थी को—पर्यूषणा पर्व मनाओ और उस दिन विधिपूर्वक श्रमणों को आहार भी दो। इस तरह प्रसङ्गवश कालकाचार्य ने चतुर्थी मनाई। और उस दिन से वह तिथि श्रमणपूजा-पर्व रूप से महाराष्ट्र में प्रचलित हुई।

जैसे पहले कहा गया है, सिर्फ प्रभावक आचार्य ही ऐसे निर्णय दे सकते हैं, जो युगप्रधान आचार्य हों, बड़े श्रुतधर हों। और यहाँ भी तिथिनिर्णय का प्रसङ्ग होने से यह ज्योतिषशास्त्र—मुहूर्त्त और निमित्त—को जाननेवाले आर्यकालक के जीवन की घटना ही हो सकती है। फिर यह सुप्रतीत है कि नं. ५ की गर्दभराजोच्छेद-वाली घटना में बलमित्र-भानुमित्र का निर्देश होने से नं. ५ और नं. ६ के आर्य कालक एक ही व्यक्ति हैं और इस तरह जैसे कि हम पीछे देख चूके हैं नं. ५, नं. ६, नं. ७ और नं. २ वाली घटनाओं के कालक, एक ही हैं। नं. ३ और ४ वाली घटनाओं के आर्य कालक अनुयोगकार हैं उनका और सुवर्ण भूमि जानेवाले (नं. ७) कालक का एक होना तो पहिले ही देख चूके हैं। नं. १ वाली घटना विस्तार से आगे देखेंगे। अनुयोगकार कालक निमित्तज्ञानी हैं और नं. १ में यज्ञफल बतलाने वाले कालक भी समर्थ निमित्तज्ञानी हैं। अतः वास्तव में घटना नं. १ से ७ के नायक एक ही आर्य कालक होंगे। यही युक्ति-सङ्गत लगता है।

---

४९. **वही**, पृ० ६४-६५ पादनोंध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी ढंग से अन्वेषण करने का और इस प्रश्न का निराकरण करने का प्रयत्न मुनि कल्याणविजयजी ने भी किया। मुनि जी के खयाल से दो कालकाचार्य हुए। मगर जिस तर्क से वे दूसरे कालक के साथ भिन्न घटनाओं को जोड़ते हैं इसी तर्कपद्धति से वास्तव में एक ही कालक के साथ सब घटनाओं का सम्बन्ध सिद्ध होता है, उस कालक का समय कुछ भी हो।

एक से ज्यादा कालकाचार्य की समस्या की उपस्थिति बाद के ग्रन्थकारों के कारण और कालगणनाओं में होनेवाली गड़बड़ के कारण, खड़ी हुई है। मुनिजी के तर्क को और निर्णय को सविस्तर देखने के पहले हम यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि हमारा उक्त अनुमान मुनिजी की तर्कपद्धति से ही किया गया है। आप लिखते हैं—"गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना में यह लिखा है कि ये कालक ज्योतिष और निमित्तशास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। उधर पाँचवीं घटना कालक के निमित्तशास्त्राध्ययन का ही प्रतिपादन करती है। इससे यह बात निर्विवाद है कि इन दोनों घटनाओं का सम्बन्ध एक ही कालकाचार्य से है।"[५०] जब इसी तर्क से सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की घटित होती हैं, तब कुछ घटनायें पहिले कालकपरक और अन्य सब दूसरे कालकपरक मानना ऐसा मुनि जी का अनुमान युक्तिसङ्गत नहीं है।

सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की हैं ऐसे निर्णय को दूसरी दृष्टि से भी पुष्टि मिलती है। हमने पहले बताया है उस तरह पहिले विभाग के संदर्भों (निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, कहावली इत्यादि) को देखें तो कोई भी ग्रन्थकार दो कालक की हस्ती दिखलाते ही नहीं। उन सब संदर्भों की छानबीन करनी चाहिये। हरेक ग्रन्थकार भिन्न भिन्न विषय की चर्चा में, कालक के जीवन की एक या दो या तीन घटनायें देते हैं और हरेक ग्रन्थकार के मत से ये घटनायें एक ही कालक की हैं क्योंकि उन्होंने विरोधात्मक सूचन दिया ही नहीं और न इनको ऐसी शङ्का उत्पन्न हो सकती थी। अब देखें कि प्राचीन ग्रन्थ में कौनसी घटना है—

१. **दशाचूर्णि**—इसमें घटना नं. ६—चतुर्थीकरण—मिलती है।

२. **बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना नं० ७ और घटना नं० ५—गर्दभिल्लोच्छेद। इस के अलावा यवराजा, गर्दभ-युवराज और अडोलिया वाला कथानक (गर्दभ का गर्दभराजोच्छेद से सम्बन्ध है मगर उस वृत्तान्त में कालक का प्रसङ्ग नहीं है)। यह यवराज और गर्दभ वाला वृत्तान्त हमने यहाँ परिशिष्ट में दिया है, गर्दभिल्लों के विषय में आगे के संशोधन में पण्डितों की सुविधा के खयाल से।

३. **पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना नं० ३—निमित्तपठन, और घटना नं० ४—अनुयोग-ग्रन्थादि निर्माण.

४. **उत्तराध्ययन निर्युक्ति और चूर्णि**—घटना नं० ७—अविनीत शिष्य परिहार, सुवर्णभूमि-गमन; और घटना नं० २—निगोद व्याख्यान.

५. **निशीथचूर्णि**—घटना नं० ५—गर्दभिल्लोच्छेद और घटना नं० ६—चतुर्थीकरण.

६. **व्यवहार-चूर्णि**—आर्य कालक उज्जैन में शकों को लाये ऐसा उल्लेख है अतः वह घटना नं० ५ से सम्बन्ध रखती है।

७. **आवश्यकचूर्णि**—घटना नं० १—दत्त के सामने यज्ञफलकथन.

---

५०. देखिये, मुनि कल्याणविजय, **आर्य कालक**, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९९०) पृ० ११५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. **कहावली**—घटना नं० ५—गर्दभोच्छेद; घटना नं० ६—चतुर्थीकरण; घटना नं० ७—अविनीत शिष्यपरिहार, सुवर्णभूमिगमन; घटना नं० १—कालक और दत्तराजा.

अब जब पञ्चकल्पभाष्य के अनुसार नं० ३ और ४ वाले कालक एक हैं, उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार नं० ७ और नं० २ वाले एक हैं, और जब नं० ७ वाली घटना का नं० ३ और नं० ४ के अनुयोग-ग्रन्थों से सम्बन्ध है तब नं० ३, ४, ७, और २—ये सब घटनाएँ एककालकपरक होती हैं। निशीथचूर्णि अनुसार नं० ५ और नं० ६ वाले आर्य कालक एक हैं। और बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार नं० ५ और नं० ७ वाले एक हैं, अतः नं० ५, ६ और नं० ७ वाले कालक तो एक हैं ही। उत्तराध्ययननिर्युक्ति और चूर्णि के मत से नं० ७ और नं० २ वाले एक हैं। अतः नं० ५, ६, ७, २ वाले एक ही कालक हैं। फिर नं० ३ और ४ वाले नं० ७ वाले कालक हैं वह तो स्पष्ट है।[५१] मुनिश्री कल्याणविजयजी को यह मंजूर है। और कहावली के अनुसार, नं० ५, नं० ६, नं० ७ और नं० १ वाले कालक एक हैं। अतः इस विभाग के ग्रन्थों के समीक्षण से इन ग्रन्थकारों के खयाल में घटना नं० १ से घटना नं० ७ वाली सब घटना वाले कालकाचार्य एक ही होंगे।

वह कालक कब हुए? मुनिश्री कल्याणविजयजी के मत से दो कालकाचार्य हुए—पहले निर्वाण संवत् ३०० से ३७६ तक में, इन का जन्म नि० सं० २८० में, दीक्षा नि० सं० ३०० में, युगप्रधानपद नि० सं० ३३५ में और स्वर्गवास नि० सं० ३७६ में। उनके जीवन की दो घटनाएँ: घटना नं० १—यज्ञफलकथन, और घटना नं० २—निगोदव्याख्यान।[५२]

मुनिजी के मत से, दूसरे कालक के जीवन में घटना ३ से ७ हुई। और वे घटनायें इस क्रमसे हुई:—घटना ३ (निमित्त-पठन), वीर निर्वाण संवत् ४५३ से पहले; घटना ४ (अनुयोग-निर्माण), नि० सं० ४५३ से पहले; घटना ५ (गर्दभिल्लोच्छेद), नि० सं० ४५३ में; घटना ६ (चतुर्थी पर्यूषणा), नि० सं० ४५१ से ४६५ के बीच में; घटना १ (अविनीत-शिष्य-परिहार), नि० सं० ४५१ के बाद और ४६५ के पहले[५३]।

आप लिखते हैं—"जहाँ तक हम जान सके हैं, उपर्युक्त सात घटनाओं के साथ दो ही व्यक्तियों का सम्बन्ध है—प्रज्ञापनाकर्ता श्यामार्य और सरस्वती-भ्राता आर्य कालक। निगोद-पृच्छा सम्बन्धक घटना, जो कालक-कथाओं में चौथी घटना कही गई है, हमारी समझ में आर्य रक्षित के चरित्र का अनुकरण है। परन्तु इस विषय में निश्चित मत देना दुस्साहस होगा क्यों कि 'उत्तराध्ययन-निर्युक्ति' में एक गाथा हमें उपलब्ध होती है, जिसका आशय यह है—"उज्जयिनी में कालक क्षमाश्रमण थे और सुवर्णभूमि में सागर श्रमण। (कालक सुवर्णभूमि गये, और इन्द्र ने आ कर) शेष आयुष्य के विषय में पूछा। (तब कालक ने कहा) आप इन्द्र हैं। ××× इस वर्णन से यह तो मानना पड़ेगा कि कालक के पास इन्द्रागमन-विषयक बात

---

५१. अविनीतशिष्य-परिहार (और सुवर्णभूमिगमन) वाली घटना और निमित्त पठन और अनुयोग-निर्माणवाली घटना को छानबीन कर के मुनिश्री लिखते हैं—"इन दोनों घटनाओं का आन्तरिक रहस्य एक ही है और वह यह कि कालक के शिष्य उनके काबू में न थे।" इस खयाल को ले कर मुनिजी ने भी बताया है कि ये घटनायें एक ही कालक के जीवन की हैं।—**द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ११५.

५२. **वही**, पृ० ११६–११७.

५३. **वही**, पृ० ११६–११७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी प्राचीन है।[५४] उपर्युक्त घटना से यह भी जाना जाता है कि सागर के दादा-गुरु दूसरे आर्य कालक के साथ इस घटना का सम्बन्ध है। परन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि युगप्रधान-स्थविरावली में "श्यामार्य" नामक प्रथम कालक को निगोद व्याख्याता कहा है। ऐसी दशा में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि निगोदव्याख्याता कालकाचार्य पहिले थे या दूसरे।"[५५]

मुनिजी के उक्त विधान में वास्तव में आखरी वाक्य की जुरूरत ही नहीं, क्यों कि निगोद-व्याख्यान का सम्बन्ध श्यामार्य से हो सकता है अथवा आर्य रक्षित से। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि इस घटना में इन्द्र अपना शेष आयुष्य पूछता है जो वास्तव में ज्योतिष और निमित्तशास्त्र का विषय है। सुवर्णभूमि जानेवाले और अनुयोग निर्माता आर्य कालक एक ही थे और वे निमित्तज्ञानी थे यह तो हम देख चुके हैं और **घटना ३ से घटना ७ वाले कालक एक ही हैं वह तो मुनिजी को भी मंजूर है। अब अगर हम सिद्ध कर सकें कि अनुयोग निर्माता आर्य कालक वह श्यामार्य ही हो सकते हैं तब घटना ३ से घटना ७ वाले कालक को भी श्यामार्य मानना पड़ेगा।** और उत्तराध्ययन-निर्युक्ति-गाथा-(जो प्राचीन होने से ज्यादा विश्वसनीय होनी चाहिये) भी सच्ची सिद्ध होगी।

हम कह चुके हैं कि आर्य रक्षित ने अनुयोग-पृथक्त्व किया और अनुयोग के चार भाग किये। आर्य रक्षित का समय है आर्य वज्र के बाद का, मतलब कि नि० सं० ५८४ से ५९७ आसपास,[५६] ई० स० ५७ से ७० आसपास। आर्य कालक ने लोकानुयोग, गण्डिकानुयोग, प्रथमानुयोग आदि का निर्माण किया जैसा कि पञ्चकल्पभाष्य में कहा गया है। इस के बाद ही अनुयोग पृथक्त्व हो सकता है। कालक के अनुयोग के आर्य रक्षित के अनुयोग पृथक्त्व से पूर्ववर्ती होने का एक और प्रमाण भी मिलता है। इस विषय में मुनि श्री कल्याणविजयजी ने लिखा है कि—"**नन्दीसूत्र में मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग का उल्लेख मिलता है। वहाँ प्रथमानुयोग के साथ लगा हुआ 'मूल' शब्द नन्दी के रचनाकाल में दो प्रथमानुयोगों के अस्तित्व की गूढ़ सूचना देता है।** यद्यपि टीकाकार इस 'मूल' शब्द का प्रयोग तीर्थङ्करों के अर्थ में बताते हैं, तथापि वस्तुस्थिति कुछ और ही मालूम होती है।[५७] आवश्यक-निर्युक्ति आदि जैन सिद्धान्त-ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट लिखी मिलती है कि आर्य रक्षित सूरिजी ने अनुयोग को चार विभागों में बाँट दिया था[५८]

---

५४. वास्तव में इस घटना का आर्य रक्षित से सम्बन्ध तब जोड़ा गया जब कालक के अनुयोग का स्थान आर्य रक्षित के अनुयोग-पृथक्त्व ने लिया। अतः उत्तराध्ययन-निर्युक्ति-गाथा में शङ्का रखने की आवश्यकता नहीं।

५५. **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ,** पृ० ११४।

५६. देखिये, **पट्टावली समुच्चय,** सिरि दुसमाकाल-समणसंघ-थयं, पृ० ११–१८.

५७. नन्दीसूत्र का यह उल्लेख ऐसा है:—

से किं तं अणुओगे? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते।
तं जहा—मूलपढमाणुओगे, गंडियाणुओगे य॥

से किं तं मूलपढमाणुओगे? मूलपढमाणुओगे णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा देवगमणाइं आउं चवणाइं जम्मणाणि अभिसेआ रायवरसिरीओ पव्वज्जाओ.....एवमाइभावा मूलपढमाणुओगे कहिआ, से त्तं मूलपढमाणुओगे, से किं तं गंडिआणुओगे? २ कुलगरगंडिआओ तित्थयरगंडिआओ चक्कवट्टिगंडिआओ दसारगंडिआओ बलदेवगंडिआओ, वासुदेवगंडिआओ गणधरगंडिआओ भद्दबाहुगंडिआओ तवोकम्मगंडिआओ...से तं गंडिआणुओगे, से तं अणुओगे। —**नन्दीसूत्र** (आगमोदय–समिति, सूरत) सू, ५६, पृ. २३७-२३८ और पृ० २४१ पर की टीका.

५८. यह गाथा ऐसी है—देविंदवंदिएहि महाणुभागेहि रक्खिअज्जेहिं।
जुगमासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा॥
—आवश्यक हारिभद्रीयवृत्ति, पृ० २९६, निर्युक्ति गाथा, ११४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस के एक विभाग का नाम 'धर्मकथानुयोग' था। इस धर्मकथानुयोग में उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि सूत्रों को रक्खा था[५९]। परन्तु नन्दीसूत्र में मूलप्रथमानुयोग का जो वर्णन दिया है वह इस आर्यरक्षितवाले धर्मकथानुयोग के साथ मेल नहीं खाता[६०]।" ये नाम कालक के अनुयोगों के हैं, आर्यरक्षित के चार अनुयोग भिन्न भिन्न नामों से पिछाने गये हैं।

हम देखते हैं कि नन्दीसूत्रकार के कथनानुसार मूलप्रथमानुयोग में तीर्थङ्कर, गणधर, पूर्वधर, आदि के अनशन आदि विषयों का वर्णन है। आर्य कालक के 'प्रथमानुयोग' में भी हम देख चुके हैं कि तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के पूर्वभवों और चरित्रों का वर्णन था, जैसा कि पञ्चकल्पभाष्य का कहना है। अतः वास्तव में नन्दीसूत्र में मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग के निर्देश में सूत्रकार आर्य कालक के अनुयोग-ग्रन्थों का ही उल्लेख कर रहे थे और इसी लिए इन्होंने मूल-प्रथमानुयोग ऐसा शब्दप्रयोग किया।

क्यों कि ये मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोगकार आर्य कालक आर्य रक्षित से पूर्ववर्ती ही हो सकते हैं अतः वे (मुनिश्री कल्याणविजयजी के) प्रथम कालक—आर्य श्याम ही हो सकते हैं। जब अनुयोग निर्माता (घटना ४) आर्य कालक वह श्यामार्य ही हैं तब पूर्वोक्त प्रकार से घटना ३ से घटना ७ वाले आर्य कालक भी वही श्यामार्य ही हैं।

इस सब चर्चा से फलित होता है कि आर्यकालक काल्पनिक नहीं किन्तु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जिन्हों ने मूलप्रथमानुयोग आदि का निर्माण किया और जिनका नन्दीसूत्रकार भी प्रमाण देते हैं। इनके लोकानुयोग में निमित्तशास्त्र था ऐसा पञ्चकल्पभाष्य का प्रमाण है। उसी निमित्तशास्त्र के एक विषय–प्रव्रज्या–के बारे में कालक के मत का अनुसरण वराहमिहिर ने किया और उसी विषय की गाथायें भी हमें उत्पलभट्ट की टीका में प्राप्त होती हैं। इन सब साक्षियों के सामने आर्य कालक के ऐतिहासिक व्यक्ति होने के बारे में अब कोई भी शंका नहीं रहती। और अनुयोगकार कालक वह आर्यरक्षित के पूर्ववर्ती श्यामार्य (प्रथम कालक) ही हैं। अतः घटना ३ से ७ वाले कालक भी श्यामार्य हैं न कि मुनिजी के द्वितीय कालक।

प्राचीन और अर्वाचीन पण्डितों–ग्रन्थकारों के मत से श्यामार्य प्रथम कालकाचार्य माने जाते हैं। आर्य श्याम और आर्य कालक ये दोनों नाम पर्यायरूप से एक ही व्यक्ति के लिए उपयोग में लिये गये हैं। इसी तरह सागर का पर्याय होता है समुद्र। किसी भी पट्टावली में हमें आर्य कालक के प्रशिष्य आर्य सागर नहीं मिलते किन्तु आर्य श्याम के प्रशिष्य आर्य समुद्र अवश्य मिलते हैं। और यह उल्लेख भी नन्दीसूत्र की स्थविरावली में है जो प्राचीन भी है और विश्वसनीय भी। नन्दीसूत्र पट्टावली का उल्लेख देखना चाहिये—

हारियगुत्तं साइं च, वंदिमो हारियं च सामज्जं।
वन्दे कोसियगोत्तं, संडिल्लं अज्ज जीयधरं ॥ २६ ॥

---

५९. देखो—कालियसुयं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपण्णत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥
—आवश्यकसूत्र, हारिभद्रीयवृत्ति, पृ० ३०९, मूलभाष्यगाथा, १२४.

आर्यरक्षितकृत चार अनुयोगों के नाम हैं—चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, कालानुयोग और द्रव्यानुयोग।

६०. **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० १०६–१०७। मुनिजी लिखते हैं—"यद्यपि आवश्यकमूलभाष्य में 'चरणकरणानुयोग' पहिला कहा गया है और 'धर्मकथानुयोग' दूसरा, तथापि इस कथानुयोग को प्रथमानुयोग कहने से यह ज्ञात होता है कि पहले के चार अनुयोगों में 'धर्मकथानुयोग' का नंबर पहिला होगा।
—**वही**, पृ० १०६, पादनोंध ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिसमुद्दखायकित्तिं दीवसमुद्देसु गहियपेयालं ।
वन्दे **अज्जसमुद्दं**, अक्खुभियसमुद्दगंभीरं ॥ १७ ॥[६१]

उपर्युक्त गाथाओं में श्यामार्य के बाद संडिल्ल (शाण्डिल्य) और उनके बाद आर्य समुद्र को पाते हैं। आर्य श्याम को प्रथम कालक माननेवाले (अर्थात् "श्याम" और "कालक" को एक ही व्यक्ति के नाम के पर्याय गिननेवाले) में मुनिश्री कल्याणविजयजी, डॉ० डब्ल्यू० नॉर्मन ब्राउन आदि सब आधुनिक पण्डित सम्मत हैं। जैन परम्परा में भी यही देखने मिलता है।[६२] स्थविरावलियों, पट्टावलियों के अनुसार प्रथम कालक ऊर्फ आर्य श्याम गुणसुन्दर के अनुवर्ती स्थविर और पट्टधर हैं।[६३] मेरुतुङ्ग की **विचार-श्रेणि** में भी—

अज्जमहागिरि तीसं, अज्जसुहत्थीण वरिस छायाला।
गुणसुंदर चउआला, एवं तिसया पणतीसा॥
तत्तो इगचालीसं, **निगोय-वक्खाय कालगायरिओ**।
अट्ठत्तीसं **खंदिल** (संडिल), एवं चउसय चउद्दसय॥
रेवइमित्ते छत्तीस, अज्जमंगु अ वीस एवं तु।
चउसय सत्तरि, चउसय तिपन्ने कालगो जाओ॥
चउवीस अज्जधम्मे एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ।[६४]

जैनसाहित्य–संशोधक, खण्ड २, अङ्क ३–४, परिशिष्ट

रत्नसञ्चय–प्रकरण (अनुमान से विक्रम १६ वीं शताब्दि), जिसमें चार कालकाचार्यों का उल्लेख है, उसमें भी प्रथम कालक श्यामार्य ही माने गये हैं—

---

६१. **नन्दीसूत्र** (आगमोदयसमिति, सूरत, ई० स० १९१७), पृ० ४९. **पट्टावली समुच्चय**, भाग १, (सम्पादक, मु० दर्शनविजय, वीरमगाम, ई० स० १९३३), पृ० १३.

डॉ० पीटरसन, **ए थर्ड रीपोर्ट ऑफ ऑपरेशन्स इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट्स इन ध बॉम्बे सर्कल**, (बम्बई, ई० स० १८८१) में पृ० ३०३ पर, विनयचन्द्र (वि० सं० १३२५) रचित कल्पाध्ययनदुर्गपद-निरुक्त के अवतरण में किसी स्थविरावली की गाथायें हैं, जहाँ—

सूरिबलिस्सह साई सामज्जो संडिलो य जीयधरो।
अज्जसमुद्दो मंगू नंदिल्लो नागहत्थी य॥ २॥

ऐसा पाया जाता है। यही गाथा मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि-अन्तर्गत स्थविराली में भी है।

६२. देखो, ब्राउन, **ध स्टोरि ऑफ कालक**, पृ० ५–६ और पादनोंध।

६३. **वही**, पृ० ५. श्री धर्मसागरगणि-कृत तपागच्छ-पट्टावली में भी—"अत्र श्रीआर्यसुहस्तिश्रीवज्रस्वामि-नोरन्तराले १ गुणसुन्दरसूरिः, २ श्रीकालिकाचार्यः, ३ श्रीस्कन्दिलाचार्यः, ४ श्रीरेवतीमित्रसूरिः, ५ श्रीधर्मसूरिः" ऐसा बताया गया है—**पट्टावली-समुच्चय**, भाग १, पृ० १६।

६४. डा० भाउ दाजी ने **जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटि**, वॉ० ९ पृ० १४७-१५७ में मेरुतुङ्ग की स्थविरावली का विवरण किया है। मुनिश्री कल्याणविजयजी ने अपने **वीर-निर्वाण-सम्वत् और जैनकालगणना**, पृ० ६१ पर स्थविरावली या युगपधानपट्टावली की गाथायें दी हैं, वे वही हैं जो मेरुतुङ्ग ने दी हैं।

श्यामार्य हुए आर्य महागिरि की परम्परा में जो वाचकवंश रूप से पिछाना गया है, मेरुतुङ्ग ने आर्य महागिरि की शाखा के स्थविरों की अलग गाथायें भी दी हैं:—"सूरि बलिस्सह साई **सामज्जो संडिलो** य जीयधरो। **अज्जसमुद्दो** मंगु नंदिल्लो नागहत्थी य।" इत्यादि, देखो, **जैनसाहित्य-संशोधक, २**, ३–४, परिशिष्ट, पृ० ५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिरिवीराओ गएसु पणतीससहिएसु तिसय (३३५) वरिसेसु।
पढमो कालगसूरी, जाओ सामज्जनामुत्ति ॥ ५५ ॥
चउसय तिपन्न (४५३) वरिसे कालगगुरुणा सरस्सइ गहिआ।
चउसयसत्तरि वरिसे वीराओ विक्कमो जाओ ॥ ५६ ॥
पंचेव वरिससए, सिद्धसेणो दिवायरो जाओ।
सत्तसयवीस (७२०) अहिए कालिगगुरू सक्कसंथुणिओ ॥ ५७ ॥
नवसयतेणउएहिं (९९३), समइक्कंतेहि वद्धमाणाओ।
पज्जोसवणचउत्थी, कालिकसूरीहिंतो ठविआ ॥ ५८ ॥[६५]

कालकाचार्य-कथानकों में कालक के गुरु का नाम गुणाकर, या गुणसुन्दर, या गुणन्धर मिलता है। देवचन्द्रसूरि आदि रचित सर्व कालककथानकों के नायक वही आर्य कालक थे जिनके गुरु गुणाकर, गुणसुन्दर आदि नामों से उद्दिष्ट थे। और जब आर्य श्याम को प्रथम कालक मानने में कोई विरोध नहीं है और जब इन्ही कालक के गुरु या पुरोगामी पट्टधर स्थविर आर्य गुणसुन्दर थे, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि कालक-कथानकों में उद्दिष्ट (सर्व घटनाओं के नायक) आर्य कालक श्यामार्य ही हैं। किसी कथाकार ने ऐसा नहीं बतलाया कि भिन्न भिन्न घटनाओं के नायक भिन्न भिन्न कालक थे। सर्व कथानकों में प्रथम कालक के जन्म, दीक्षा गुरु आदि के निर्देश के बाद घटनाओं के वर्णन क्रमशः दिये गये हैं। अतः यह निश्चित है कि कथानकों में वर्णित घटनाओं के नायक यह कालक हैं जो स्थविर आर्य गुणसुन्दर के अनुगामी थे और जिनको स्थविर आर्य श्याम नाम से थेरावलियों में वन्दना की गई है। सर्व थेरावलियों में श्यामार्य का क्रम या समय एक ही है। एक नाम के एक से ज्यादा आचार्य होना सम्भवित है और ऐसे कई दृष्टान्त जैन धर्म के इतिहास में मौजूद हैं। कालक नाम के भी दूसरे आचार्य हुए होंगे, किन्तु यह स्पष्ट है कि कथानकों के नायक प्रथम कालक ही थे। इन प्रथम कालक=आर्य श्याम का समय रत्नसञ्चय प्रकरण की उपर्युक्त गाथा के अनुसार वीरात् ३३५ वर्ष है। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि के परिशिष्ट में एक गाथा है—

सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण ॥

यह गाथा भी श्यामार्य को कालक मानती है मगर उनका समय वीरात् ३२० बताती है। मुनिश्री कल्याणविजय लिखते हैं—"मालूम होता है, इस गाथा का आशय कालकसूरि के दीक्षा समय का निरूपण करने का होगा।"[६६] यह मेरुतुङ्ग शायद अञ्चलगच्छ के हैं और प्रबन्धचिन्तामणि के कर्ता मेरुतुङ्ग से भिन्न

---

६५. **वीर-निर्वाण-सम्वत् और जैन-काल-गणना,** पृ० ६५, पादनोंध ४६. यह स्पष्ट है कि रत्नसञ्चय-प्रकरण की चार कालकविषयक मान्यता गलत है। चतुर्थी तिथि को पर्यूषणापर्व मनाने की हकीकत वीरात् ९९३ वर्ष में हुए कालक के साथ नहीं जोड़ी जा सकती, क्यों कि पर्यूषणापर्वतिथि चतुर्थी को मनानेवाले कालक सातवाहन राजा के समय में हुए थे।

चार कालक की कल्पना का निरसन मुनिश्री कल्याणविजयजी ने **आर्य-कालक** नामक लेख में किया है, देखो **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ,** पृ० ९४–११७।

६६. **वीर-निर्वाण सम्वत् और जैनकालगणना,** पृ० ६४, पादनोंध ४६। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि, तदन्तर्गत स्थविरावली इत्यादि के बारे में **जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटी,** भाग ९ (१८६७-७०) में डॉ० भाउ दाजी का विवेचन भी देखिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होंगे ऐसा खयाल पण्डित लालचन्द्र गान्धी का है। इन मेरुतुङ्ग का समय विक्रम संवत् १४०३ से १४७१ के बीच में है।[६७] इन्हीं के आधार से आर्य श्याम का समय निर्णीत करना ठीक न होगा। किन्तु सब जैनाचार्य प्रथम कालक या श्यामार्य का समय यही बतलाते हैं। दुष्षमाकाल श्रीश्रमणसङ्घस्तोत्र और उसकी अवचूरि के अनुसार प्रथम कालक का यही समय है।[६८] नन्दीसूत्रान्तर्गत स्थविरावली के अनुसार श्यामार्य और स्थविर आर्य सुहस्ति के बीच में बलिस्सह और स्वाति हुए। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि अन्तर्गत स्थविरावली-गाथानुसार सुहस्ति के बाद गुणसुंदर ४४ वर्ष तक और आर्यकालक ४१ वर्ष तक पट्टधर रहे। (प्रथम) कालक या श्यामार्य के समय के विषय में तो प्राचीन अर्वाचीन सभी पण्डितों का ख़याल एक-सा है—इनका युगप्रधानपद वीर-निर्वाण संवत् ३३५ में और स्वर्गवास वी० नि० सं० ३७६ में।

अब जैन परम्परा के अनुसार वीर निर्वाण का समय है विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व, अतः ई० स० पूर्व ५२७ होगा। इस हिसाब से श्यामार्य का युगप्रधानत्व होगा ई० स० पूर्व १६२ से १५१ तक। डा० याकोबी के मतानुसार अगर वीर निर्वाण ई० स० पूर्व ४६७ में हुआ, तो श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व १३२ से ६१ तक।

उपर्युक्त दोनों समय में से कौनसा ग्राह्य है यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते, क्योंकि वीर निर्वाण के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु दोनों में से कोई भी समय ग्राह्य हो, पर उससे आर्य कालक का सुवर्णभूमि जाना असम्भव नहीं है। हम देख चुके हैं कि ई० स० पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दि में भारत सुवर्णभूमि से सुपरिचित था।

हमने यह भी जान लिया है कि घटना १ से ७ एक ही कालक के जीवन की होनी चाहिये। तब गर्दभ राजा के उच्छेदक आर्य कालक का समय भी ई० स० पूर्व १६२ से १५१ तक या ई० स० पूर्व १३२ से ६१ तक हो जाता है। शङ्का होगी कि यह कैसे हो सकता है? जब कि गर्दभ-राजा के उच्छेदक कालक के कथानक का सम्बन्ध है विक्रम के साथ और उस विक्रम और शकों के पुनर्राज्यस्थापन (शक संवत्) के बीच में १३५ वर्ष का अन्तर जैन परम्परा को भी मंजूर है।

किन्तु यहाँ देखने का यह है कि कालक-कथानक का सम्बन्ध है शकों के प्रथम आगमन और राज्य-स्थापन के साथ न कि ई० स० ७८ में जिन्होंने शक संवत् चलाया उन शकों के साथ। मुनि कल्याण—विजयजी ने जैन परम्पराओं को लेकर कालक, गर्दभ, विक्रम आदि के समय निर्णय का जो प्रयत्न किया है वह देखना चाहिये। उन्होंने अपना "वीर निर्वाणसम्वत् और जैन कालगणना" नामक ग्रन्थ में इस विषय की चर्चा में कहा है कि पुष्यमित्र शुङ्ग के राज्य के ३५ वें वर्ष के लगभग (जो शायद था उसके राज्य का आखरी वर्ष) "लाट देश की राजधानी भरुकच्छ (भरोच) में बलमित्र का राज्याभिषेक हुआ। बलमित्र-भानुमित्र के राज्य के ४७ वें वर्ष के आसपास उज्जयिनी में एक अनिष्ट घटना हो गई। वहाँ के गर्दभिल्लवंशीय **राजा दर्पण** ने कालकसूरि नाम के जैनाचार्य की बहन सरस्वती साध्वी को जबरन् पड़दे में डाल दिया।" इसके बाद कालक के पारसकूल जा कर शकों को भारत में लानेवाली निशीथचूर्णि और कहावली में पाई जाती हकीकत दे कर मुनिजी बतलाते हैं कि लाट देश के

---

६७. पीटरसन, **रिपोर्ट**, वॉल्युम ४, पृ० xcviii। अगर प्रबन्धचिन्तामणिकार और विचारश्रेणिकार एक हों तब इनका समय वि० सं० १३६६ है।

६८. **पट्टावली-समुच्चय**, भाग १, पृ० १६-१७. विशेष चर्चा के लिए देखो, ब्राउन, **ध स्टोरी ऑफ कालक**, पृ० ५-६, और पादनोंध, २३-३३; और **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ६४-११६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा बलमित्र-भानुमित्र आदि भी शाहों के साथ हो गये (प्रस्तुत विषय में कहावली का उल्लेख—"ताहे जे गद्दहिल्लेणवमाणिया लाडरायाणो अण्णे य ते मिलिउं सव्वेहिं पि रोहिया उज्जेणि।"—मुनिजी के अनुमान का आधार है)। वास्तव में कहावली में लाट के राजाओं के नाम नहीं हैं। फिर भी मुनिजी का अनुमान ठीक हो सकता है। कालक सूरि की सूचनानुसार गर्दभिल्ल को पदच्युत करके जीवित छोड़ दिया गया और उज्जयिनी के राज्यासन पर उस शाह को बिठाया गया जिस के यहाँ कालक ठहरे थे। मुनिजी लिखते हैं—"उक्त घटना बलमित्र के राज्यकाल के ४८ वर्ष के अन्त में घटी। यह समय वीर निर्वाण का ४५३ वाँ वर्ष था। ४ वर्ष तक शकों का अधिकार[६९] रहने के बाद बलमित्र-भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और ८ वर्ष तक वहाँ राज्य किया; भरोज में ५२ वर्ष और उज्जैन में ८ वर्ष, सब मिल कर ६० वर्ष तक बलमित्र-भानुमित्र ने राज्य किया। यही जैनों का बलमित्र पिछले समय में विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ...बलमित्र-भानुमित्र के बाद उज्जयिनी के तख्त पर नभःसेन बैठा। नभःसेन के पाँचवें वर्ष में शक लोगों ने फिर मालवा पर हल्ला किया जिसका मालव प्रजा ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पाई। इस शानदार जीत की याद में मालव प्रजा ने 'मालव-संवत्' नामक एक संवत्सर भी लाया जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[७०]

---

६९. **वीर निर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना,** पृ० ५४-५५। मुनिश्री पादनोंध में लिखते हैं—मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि में दी हुई गाथा में 'सगस्स चउ' अर्थात् 'उज्जयिनी में शक का ४ वर्ष तक राज्य रहा' इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी शकों के हाथ में चार वर्ष तक ही रही थी। कालकाचार्य-कथा की—

"बलमित्त भाणुमित्ता, आसि अवंतीइ रायजुवराया।
तिय भाणिज्जत्ति तया, तत्थ गओ कालगायरिओ॥"

इस गाथा में और निशीथचूर्णि के—"कालगायरिओ विहरंतो उज्जेणिं गतो। तत्थ वासावासं ठितो। तत्थ णगरीए बलमित्तो राया, तस्स कनिट्ठो माया भाणुमित्तो जुवराया ××××"—इस उल्लेख में बलमित्र को उज्जयिनी का राजा लिखा है। इस से यह निश्चित होता है कि.....उज्जयिनी को सर करने के बाद उन्होंने (आर्य कालक ने) वहाँ के तख्त पर शक मंडलिक को बिठाया था पर बाद में उसकी शक्ति कम हो गई थी, शक मंडलिक और उस जाति के अन्य अधिकारी पुरुषों ने अवंति के तख्तनशीन शक राजा का पक्ष छोड दिया था।" इसी के समर्थन में मुनिजी व्यवहारचूर्णि का अवतरण देते हैं:—

"यदा कालएण सगा आणीता सो सगराया उज्जेणीए रायहाणीए तस्संगणिज्जगा 'अम्हं जातीए सरितो'त्ति काउं गव्वेणं तं रायं ण सुट्ठु सेवंति। राया तेसिं वित्तिं ण देति। अवित्तीया तेण्णं आढत्तं काउं ते णाउं बहुजणेण विण्णविएण ते णिव्विसता कता, ते अण्णं रायं ओलग्गणट्ठाए उवगता।" इस से मुनिजी का अनुमान है कि यह शकराजा कुछ समय के बाद हटा दिया गया होगा।

७०. **वीर निर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना,** पृ० ५५-५६। मुनिजी इसी निबन्ध में पृ० ५८ पादनोंध ४२ में लिखते हैं:— विचारश्रेणि आदि में जो संशोधित गाथाएँ हैं उनमें इसका (नभःसेन का) नाम 'नहवाहन' लिखा है जो गलत है। तित्थोगाली में बलमित्र-भानुमित्र के बाद उज्जयिनी का राजा नभःसेन लिखा है। 'नहवाहन' जिसके नामान्तर 'नरवाहन' और 'दधिवाहन' भी मिलते हैं, भरोच का राजा था। सिक्कों पर इस का नाम 'नहपान' भी मिलता है। प्रतिष्ठान के सातवाहन ने इस के ऊपर अनेक बार चढ़ाइयाँ की थीं।"

विचारश्रेणि अन्तर्गत गाथायें निम्नोल्लिखित हैं—

जं रयणिं कालगओ अरिहा तित्थङ्करो महावीरो।
तं रयणिमवंतीइं अहिसित्तो पालगो राया॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बलमित्र-भानुमित्र कहीं भरोच के और कहीं उज्जयिनी के राजे कहे गए हैं। मुनिश्री कल्याण विजयजी के मत से उसका कारण यही है कि वे पहले भरोच के राजा थे पर शक को हरा कर वे उज्जयिनी या अवन्ति के भी राजा बने थे। इस विषय में जो हकीकत कथानक आदि से उपलब्ध है वह हमें देखनी चाहिये—निशीथचूर्णि में गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना वर्णित है मगर बाद की राज्यव्यवस्था का उल्लेख नहीं है। चतुर्थीकरणवाली घटना भी इसी चूर्णि में है, वहाँ लिखा है—"कालगायरिओ विहरंतो उज्जेणिं गतो। ...तत्थ य नगरीए **बलमित्तो राया।**"[७१] दशाचूर्णि में भी चतुर्थीकरण वाली घटना में "उज्जेणीए नगरीए बलमेत्त-भाणुमेत्ता रायाणो" ऐसा कहा है।[७२] कहावली में गर्दभिल्लोच्छेद के बाद की व्यवस्था का निर्देश नहीं है। किन्तु चतुर्थीकरणवाले कथानक में कहावलीकार लिखते हैं—"साहिप्पमुहराणएहिं चाहिसित्तो उज्जेणीए कालगसूरिभाणेज्जो बलमित्तो नाम राया।"[७३] इस तरह बलमित्र के उज्जयिनी के राजा होने के बारे में प्राचीन साक्षी अवश्य है किन्तु कई कथानकों में चतुर्थीकरणवाली घटना के वर्णन में बलमित्र को "भरुअच्छ" (भरोंच) में राज्य करता बतलाया है।[७४] कालक-परक सभी कथानकों में

सट्ठी पालगरन्नो पणवन्नसयं तु होइ नन्दाणं।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसच्चिय पूसमित्तस्स॥
बलमित्त-भाणुमित्ताण सट्ठि वरिसाणि चत्त नहवहणे।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस वासे सगस्स चऊ॥
(जैन साहित्य संशोधक, खण्ड २ अङ्क ४ परिशिष्ट पृ० २)

वास्तव में यहाँ आखरी गाथा विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि बलमित्र भानुमित्र के ६० वर्ष, नहवाहन (या नभःसेन) के ४० वर्ष, बाद में गर्दभिल्ल के १३ वर्ष, और शक के राज्य के ४ वर्ष कहे हैं गये हैं और यह निर्विवाद है कि गर्दभिल्लोच्छेदक चतुर्थीकारक आर्य कालक बलमित्र के समकालीन थे।

७१. नवाब प्रकाशित, **कालकाचार्यकथा,** पृ० २, निशीथचूर्णि, दशम उद्देश.

७२. नवाब प्रकाशित, **कालकाचार्यकथा,** संदर्भ ६, पृ० ५.

७३. **वही,** प्राकृतकथाविभाग, कथा नं० ३, पृ० ३७.

७४. **वही,** पृ० १४, देवचन्द्रसूरिविरचितकथा (रचना संवत् ११४६ = ई० स० १०८९) में; **वही,** पृ० ३१, मलधारी श्री हेमचन्द्रविरचित कथा (रचना वि० सं० १२ शताब्दि) में; **वही,** पृ० ४५, अज्ञातसूरिविरचित कथा में, **वही,** पृ० ७०, अज्ञातसूरिविरचित अन्य कथा में; **वही,** पृ० ८७ श्री भावदेवसूरिरचित कथा (रचना संवत् १३१२ = ई० स० १२५५) में,—इत्यादि कथानकों में बलमित्र को भरुकच्छ का राजा बतलाया है।

किन्तु, जयानन्दसूरि-विरचित प्राकृत कथा (रचना अनुमान से वि० सं० १४१० आसपास) में बलमित्र-भानुमित्र को अवन्ति के राजा और युवराज बताये हैं। इसी कथानक में गर्दभिल्लोच्छेद के बाद शक को राजा बनाया इतना ही उल्लेख है। नवाब प्रकाशित, **कालकाचार्यकथा,** पृ० १०७.

वही, पृ० ५५, श्री धर्मघोषसूरि (वि० सं० १३००-१३५७ आसपास) लिखते हैं कि जिस शक राजा के पास आर्य कालक रहे थे उसको कालकाचार्य ने अवन्ति का राजा बनाया और दूसरे शक उस राजा के सेवक बने। किन्तु धर्मघोषसूरि लिखते हैं कि दूसरी परम्परा के अनुसार ये सब सेवक कालक के भागिनेय के सेवक बने—

जप्पासे सूरिठिओ सऽवंतिपहु आसि सेवगा सेसा।
अन्ने भणंति गुरुणो भाणिज्जा सेविया तेहिं॥ ४३॥
जं भणिओ निवपुरओ, स गओ ते हिं सह सूरिणो अ सगो।
सगकूल आगयत्ति य, सग्गत्ति तो आसि तव्वंसो॥ ४४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गर्दभिल्ल के, बलमित्र के, या शकों के राज्य के वर्ष आदि नहीं दिये गये। किन्तु गर्दभिल्लोच्छेद के बाद अवन्ति में कौन राजा हुआ इस विषय में क़रीब सब कथानकों और प्राचीन संदर्भों का निर्देश यही है कि गर्दभिल्ल के बाद शक राजा हुआ। उसके बाद बलमित्र अवन्ति का राजा हुआ? और ऐसा हुआ तो कब हुआ? इन सब बातों का निश्चय करना मुश्किल है क्यों कि चतुर्थीकरणावाली घटना गर्दभिल्लोच्छेद के पूर्व या पश्चात् हुई उसका पक्का पता नहीं लगता। अगर बाद में हुई—जैसा कि ज्यादह सम्भव है—तब भी बलमित्र अवन्ति–उज्जयिनी में राजा था या भरुकच्छ में? इस विषय में मतभेद रहेगा। मान लें कि उस समय बलमित्र उज्जयिनी में था तब भी उसके बाद कौन राजा हुआ? कथानकों के अस्पष्ट उल्लेखों का सारांश तो यह है कि उस शकराजा से जो वंश चला वह शककुल–शकवंश नाम से प्रसिद्ध हुआ और कालान्तर में उस वंश का उन्मूलन विक्रम ने किया। उसके (विक्रम के) वंश के बाद फिर शक राजा हुआ जिसका शकसंवत् (ई० स० ७८ से) चला। इस संवत् और विक्रम संवत् में १३५ वर्ष का अन्तर है। कोई संदर्भ या कथा यह नहीं कहती कि बलमित्र यही विक्रमादित्य है। बलमित्र को विक्रमादित्य गिनने से गर्दभिल्लोच्छेदक कालक का समय जो वास्तव में वीरात् ३३५–३७९ आसपास है उसको हटाकर वीरात् ४५३ मानना पड़ता है और वीरात् ४५३ और ४७० के बीच बलमित्र, नभःसेन, और शकराजा के राज्यवर्ष घटाने पड़ते हैं। [७५]

यहाँ अब हम पहले तो **तित्थोग्गाली पइन्नय** के उल्लेख को देखें—

"जं रयणिं सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥ ६२० ॥

फिर आगे चतुर्थीकरणवाली घटना में लिखा है—

बलमित्त-भाणुमित्ता, आसी अवंतीइ राय-जुवराया।
बिंति परे भरुअच्छे, कालयसूरी वि तत्थ गओ ॥ ४७ ॥

—**वही** पृ० ५५

७५. देवचन्द्रसूरि-रचित कथानक (रचना सं० ११४६ = १०८९ ई० स०) में कहा गया है—

" सगकूलाओ जेणं समागया तेण ते **सगा** जाया।
एवं **सगराईणं**, एसो वंसो समुप्पण्णो ॥ ६२ ॥
कालंतरेण केणइ, उप्पाडेत्ता सगाण तं वंसं।
जाओ मालवराया, णामेणं विक्कमाइच्चो ॥ ६४ ॥
पयराविओ धराए रिणपरिहीणं जणं विहेऊण।
गुरुरत्थवियरणाओ णियओ संवच्छरो जेण ॥ ६७ ॥
तस्स वि वंसं उप्पाडिऊण जाओ पुणो वि **सगराया**।
उज्जेणिपुरवरीए, पयपंकय पणयसामंतो ॥ ६८ ॥
पणतीसे वाससए, विक्कमसंवच्छराओ वोलीणे।
परिवत्तिऊण ठविओ, जेणं संवच्छरो णियगो ॥ ७० ॥

— नवाब प्रकाशित, **कालकाचार्यकथा**, पृ० १३.

इसी मतलब का विधान मलधारि श्री हेमचन्द्रसूरि (वि० सं० १२ शताब्दि) विरचित कथानक में है, देखो नवाब, **वही**, पृ० ३०। **वही**, पृ० ८१ पर भावदेवसूरि (वि० सं० १३१२ = १२५५ ई० स०) भी इसी मतलब का विधान करते हैं। **वही**, पृ० ९३ पर श्री धर्मप्रभसूरि (वि. सं. १३९८) भी ऐसा उल्लेख करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणम्।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पण्णतीसा पूसमित्ताणम् (त्तस्स) ॥ ६२१ ॥
बलमित्त-भाणुमित्ता, सट्ठी चत्ताय होंति नहसेणे।
गद्दभसयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया॥ ६२२॥
पंच य मासा पंच य वासा, छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो, तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगो राया॥ ६२३ ॥[७६]

इस तरह शक संवत् जो ई० स० ७८ से शुरू होता है उसको चलाने वाले शकराजा के पूर्व १०० वर्ष गर्दभिल्लों के, ४० वर्ष नभःसेन के और ६० वर्ष बलमित्र के बताये गये हैं।

दिगम्बर तिलोयपण्णत्ति में भी ऐसी कालगणना मिलती है किन्तु कुछ फ़र्क के साथ—

जक्काले वीरजिणो निःसेससंपयं समावण्णो।
तक्काले अभिसित्तो पालयणाम अवंतिसुदो॥ १५०५ ॥
पालकरज्जं सट्ठिं इगिसयपण्णवरण्णा, विजयवंसभवा।
चालं मुरुदयवंसा तीसं वस्सा सुपुस्समित्तम्मि॥ १५०६ ॥
वसुमित्त अग्गिमित्ता सट्ठी गंधव्वया वि सयमेक्कं।
णरवाहणा य चालं तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥ १५०७॥
भत्थट्ठणाण कालो दोण्णि सयाइं वंति वादाला।[७७]

जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराण[७८] में यही गणना मिलती है जिसके अनुसार पालक के ६० वर्ष, विजयवंश या नंदवंश के १५५ वर्ष, मरुदय या मौर्यों के ४० वर्ष, पुष्यमित्र के ३०, वसुमित्र–अग्निमित्र के ६०, गंधर्व या रासभों के १०० और नरवाहन के ४० वर्ष दिए गये हैं। उसके बाद भत्थट्टाण(भृत्यान्ध्र) राजा हुए जिनका काल २४२ वर्ष का होता है।

दिगम्बर परम्परा को यहाँ स्पर्श किया है इससे प्रतीत होगा कि उनकी कालगणना में भी कुछ गड़बड़ है। क्यों कि मौर्यों के ४० वर्ष लिखे गये हैं वह ठीक नहीं। श्री काशीप्रसाद जयस्वालजी ने श्वेताम्बर काल-गणनाओं की समीक्षा करते हुए बतलाया कि मौर्यों के कमी किये गये वर्ष रासभों (गर्दभिल्लों)

---

७६. **वीरनिर्वाणसम्वत् और जैनकालगणना** के. पृ० ३०–३१ पर मुनिश्री कल्याणविजयजी ने ये गाथायें उद्धृत की हैं। तित्थोगाली की उपलब्ध प्रतियाँ अशुद्ध हैं।

वही, पृ० ३१ पादनोंध में मुनिश्री ने दुःषमगंडिका और युगप्रधान–गंडिका का सार दिया है। दूसरी गणनाओं से उसकी सङ्गति करना मुश्किल है। किसी भी तरह शकसंवत् को वीरात् ६०५ तक ला ही जाता मगर बीच के राजाओं की कालगणना में गड़बड़ी हो जाती है। इस विषय में बहुत से विद्वानों ने चर्चा की है। यहाँ हम इन सबका सार भी लें तो वक्तव्य का विस्तार खूब बढ़ जाएगा। और यह सब चर्चा विद्वानों को सुपरिचित है ही।

७७. **तिलोयपण्णत्ति, भाग,** पृ० ३४२, **कसायपाहुड,** भाग १, प्रस्तावना, पृ० ५०-५५ में उद्धृत की गई है किन्तु परस्पर विरोधात्मक कालगणनाओं का अभी तक संतोषजनक समाधान नहीं हुआ है।

७८. डा० जयस्वाल, **जर्नल ऑफ ध बिहार-ओरिस्सा रिसर्च सोसायटी,** वॉल्युम १६, पृ० २३४–२३५. **वही,** कल्पना मुनिश्री कल्याणविजयजी भी करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में बढ़ाये गये हैं। [७९] इस कालगणना के विषय में आज तक की सब चर्चाओं में से अभी कोई गणना निर्णयात्मक फलित नहीं हुई। [८९] सम्भव है कि शकों का भारत में प्रथम आगमन और उज्जैन में राज्य करना, तदनन्तर पराजय के बाद ई० स० ७८ में फिर राज्य करना ये दोनों अलग अलग हकीकत पश्चाद्भूत ग्रन्थकार ठीक जान या समझ न सके। खुद तिलोयपण्णत्ति महावीर निर्वाण और शक सम्वत् के बीच के अन्तर की दो परम्परा देती है, एक के अनुसार निर्वाण के बाद ४६१ वर्ष होने पर शक राजा उत्पन्न हुआ (तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४, गाथा १४९६, पृ० ३४०), दूसरी के अनुसार निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ मास के बाद शक नृप उत्पन्न हुआ (वही, गाथा १४९९, पृ० ३४१)। कैसे भी हो मगर इतना तो फलित होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के बलमित्र-भानुमित्र दिगम्बर सम्प्रदाय में वसुमित्र-अग्निमित्र नाम से पिछाने जाने लगे। वे शुंगों के मध्य और पश्चिमी भारत में राज्यपाल (Governors) होंगे। वे पुष्यमित्र शुंगराजा के कुल के हो सकते हैं। विदिशा में पुष्यमित्र का युवराज अग्निमित्र राज्यपाल था वह महाकवि कालिदास कृत मालविकाग्निमित्र के पाठकों को सुविदित है। पाञ्चाल में से मित्र नामान्त (अन्य) राजाओं के सिक्के मिले हैं। इस तरह बलमित्र-भानुमित्र के उज्जयिनी या लाट के शासन की बात सम्भवित प्रतीत होती है।

पुष्यमित्र के समय में पतञ्जलि का महाभाष्य हुआ माना गया है। महाभाष्य के सूत्र ३।२।११ में कात्यायन के वार्तिक 'परोक्षे च लोकविज्ञाने प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' पर दो अति प्रसिद्ध उदाहरण दिए गये हैं—"अरुणद् यवनः साकेतम्" और "अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्"। विद्वानों ने एकमत से स्वीकार किया है कि यहाँ यूनानी राजा मीनान्डर के भारतीय अभियान का उल्लेख है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं:—"मीनान्डर ने शाकल (स्यालकोट) को अपने अधिकार में करके एक अभियान सिन्ध राजपूताना की ओर माध्यमिका (चितौड़ के समीप "नगरी") को लक्ष्य करके किया था। उसका दूसरा सैनिक अभियान पूर्व की ओर था। उस में मथुरा-साकेत (अयोध्या) को अपने अधिकार में करके वह पाटलिपुत्र (पुष्पपुर) तक बढ़ गया था। गार्गी संहिता के युग-पुराण नामक अध्याय में इस पूर्वी अभियान का स्पष्ट विवरणात्मक उल्लेख है। इसका एक नया प्रमाण जैनेन्द्र-व्याकरण सूत्र २।२।९२ पर की अभयनन्दी की महावृत्ति में किसी प्रकार सुरक्षित बच गया है:—परोक्षे लोकविज्ञाने प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शन-विषयत्वे लङ् वक्तव्यः। **अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्। अरुणद्यवनः साकेतम्।** × × × 'महेन्द्र' हमारी दृष्टि में अपपाठ है। शुद्ध पाठ "मेनन्द्र" होना चाहिए। अवश्य यही मूल पाठ रहा होगा, जिसका अर्थ न जानकर बाद के लेखकों ने 'महेन्द्र' कर दिया। वस्तुतः मीनान्डर का लोक में प्रसिद्ध नाम 'मेनन्द्र' था उनके अनेक सिक्के मिले हैं जिनमें एक ओर यवनानी लिपि में उनका नाम है और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में 'मेनन्द्र' नाम लिखा रहता है।"[८०]

---

७९. मत्स्य, ब्रह्माण्ड और वायुपुराण में कुल ७ गर्दभिल्ल राजा लिखे हैं। और ब्रह्माण्डपुराण में गर्दभिल्लों का राजत्वकाल सिर्फ ७२ वर्ष का है। तित्थोगाली पइन्नय में गर्दभिल्ल-वंश्य राजाओं की सङ्ख्या तो नहीं पर उनका राजत्वकाल १०० वर्ष प्रमाण लिखा है। जिस गर्दभराजा को कालकसूरि ने शकों की सहाय से हठाया वह क्या इस वंश का था? वह क्या गर्दभिल्ल राजाओं में आखरी राजा था? ये सब विचारयोग्य बातें हैं। श्री शान्तिलाल शाह ने "धी ट्रेडिशनल क्रॉनोलॉजि ऑफ ध जैनझ" में लिखा है कि जिस गर्दभराजा का कालक ने उच्छेदन किया वह मथुरा के एक लेख में Khardaa नामसे उद्दिष्ट राजा है और गर्दभिल्ल अलग वंश के, पल्हव पार्थिअन थे। यह सब अभी निश्चितरूप से माना नहीं जाता। किन्तु उस गर्दभ राजा का ग्रीक होना ज्यादा सम्भवित है।

८०. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, **"मिलिन्द के पूर्व-भारत में अभियान का नया उल्लेख," राजस्थान भारती,** भाग ३, अङ्क ३--४ (जुलाइ, १९५३), पृ० ७१-७२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह यह स्पष्ट है कि ग्रीकों ने मध्य भारत में अधिकार जमाया था। बलमित्र-भानुमित्र का समकालीन ग्रीक राजकर्ता ही हो सकता है। बृहत्कल्पचूर्णि में उल्लेख है कि उज्जयिनी नगरी में अनिल-सुत जव (यव? यवन?) नामक राजा था। उसका पुत्र गर्दभ नाम का युवराज था। वह अपनी ही "अडोलिया" नामक भगिनी के रूप से मोहित हो कर उससे जातीय सुख भोगता रहा। राजा इससे निर्वेद पा कर प्रव्राजित हो गया। इस उल्लेख में "अणिलसुतो नाम यवनो राजा" ऐसे पाठ की कल्पना श्री शान्तिलाल शाह के उपरोक्त ग्रन्थ में दी गई है। 'अडोलिया' कोई परदेशी नाम है। हो सकता है इसी कामान्ध गर्दभ ने साध्वी सरस्वती का अपहरण किया। वे ग्रीक राजकर्ता हो सकते हैं, किन्तु उनके मूल नाम का पता अभी तक निश्चित रूप से नहीं मिला। कहावली में इस गर्दभ राजा का नाम "दप्पण" —दर्पण—लिखा है।

मथुरा को मीनान्डर ने घेर लिया था। पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि के पहले दिये हुए उल्लेख में हम देख चुके हैं कि सातवाहन नरेश आर्य कालक को पूछता है—"मथुरा पड़ेगी या नहीं? और पड़ेगी तो कब?" इसका मतलब यह है कि मथुरा पर किसी का घेरा था और उसके परिणाम में सातवाहन राजा को रस हो यह योग्य ही है। यह भी हो सकता है कि खुद सातवाहन नरेश के सैन्य ने घेरा डाला था या वह डालना चाहता था क्यों कि बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में प्रतिष्ठान के सातवाहन राजा के दण्डनायक ने उत्तरमथुरा और दक्षिणमथुरा जीत लिया ऐसा उल्लेख है (बृहत्कल्पसूत्र विभाग ६, गाथा ६२४४ से ६२४६, और पृ० १६४७–४६)। उज्जैन में से ग्रीक (या कोई परदेशी) राजा जिसको "गर्दभ" कहा गया है उसको हटा गया, पीछे मथुरा से ग्रीक अमल को हटाने के लिए सातवाहन राजा ने प्रयत्न किया? या क्या यहाँ सातवाहन के प्रश्न में खारवेल के हाथीगुम्फा-लेख में उद्दिष्ट मथुरा की ओर के अभियान का निर्देश है? [८१]

हम देख चुके हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनका सम्बन्ध शकों के प्रथम आगमन से है। वह किसी सातवाहन राजा के समकालीन थे। बृहत्कल्पचूर्णि के उल्लेख से गर्दभ खुद यवन होने का सम्भव है। यद्यपि यह 'जव' शब्द यवन–यव–जव ऐसा रूपान्तरित है या 'मव' का 'जव' हुआ है इत्यादि बातें अनिश्चित हैं; तथापि 'अडोलिया' यह किसी ग्रीक नाम का रूपान्तर होने की शंका रहती है। क्या गर्दभ-राज (या गर्दभिल्लों) से भारत में ग्रीक राजकर्ता उद्दिष्ट हैं?

हमारे खयाल से यह ज्यादा सम्भवित है। गर्दभ और गर्दभिल्ल अवश्य परदेशी राजकर्ता होंगे। इनको हटाना भारतीयों के लिए मुश्किल मालूम पड़ा होगा। यवनों–ग्रीकों–के क्रूर स्वभाव का निर्देश हमें गार्गी संहिता के युगपुराण में भी मिलता है। इनको हटाने के लिए आर्य कालक शकों को लाये। अगर भारतीय राजकर्ता को हटाने के लिए परदेशी शक लाए गये होते तो आर्य कालक देशद्रोही गिने जाते।

---

८१. देखो, डा० बी० एम० बारुआ, **हाथीगुम्फा इन्स्क्रिप्शन ऑफ खारवेल,** इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, वॉ० १४, पृ० ४७७, लेख की पंक्ति ६. खारवेल किसी सातकर्णि (सातवाहन-वंश के) राजा का समकालीन था यह इसी लेख से मालूम होता है। खारवेल का समय ई० स० पूर्व दूसरी या पहली शताब्दि है। इस विषय में डा० बारुआ ने अगले सर्व विद्वानों के मत की चर्चा अपने लेख और पुस्तक में की है। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने **पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ एन्शिअन्ट इन्डिआ** (इ० स० १६५३ का संस्करण) में डा० बारुआ के मत की चर्चा की है। और देखो, **ध डेट ऑफ खारवेल,** जर्नल ऑफ ध एशिआटिक सोसाइटी (कलकत्ता), लेटर्स, वॉ० १६ (ई. स. १६५३), नं० १, पृ० २५–३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालक जैसे समर्थ पंडित और प्राभाविक आचार्य ऐसा कर नहीं सकते। उनको प्रतीति हुई होगी की ग्रीक राजकर्ताओं के सामने तत्कालीन भारतीय राजाओं से कुछ बनना मुश्किल था।

प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी नहीं बताया गया कि शकों को हरानेवाला विक्रमादित्य खुद गर्दभ-राजा का पुत्र था। यह मान्यता कुछ पीछे से बनी होगी। जब काल-गणना में गड़बड़ प्रतीत होती है उस समय के विधानों में यह मान्यता देखने में आती है। कालकाचार्यकथानकों में भी प्राचीन कथानकों में यह नहीं है। पीछे पादनोंध ७२ में हमने बतलाई हुई साक्षियों में कहीं भी विक्रम को गर्दभ का पुत्र नहीं कहा है। इस तरह गर्दभिल्लोच्छेद और विक्रम के बीच कम अन्तर ही होना या मानना आवश्यक नहीं। वास्तव में डा० जयस्वालजी की भी ऐसी ही राय थी। उन्हों ने गर्दभिल्लोच्छेद् वाली घटना का निर्देश करके लिखा है—

"This event is placed before the Vikrama era but no time is specified as to how long after the occupation of Ujjain and Mālvā the first Śaka dynasty came to an end. The Kathānaka expressly keeps it unspecified, as it says *"Kālāntareṇa Keṇai* (ZDMG., 1880, p. 267; Konow, CII. II. p. xxvii)."[८२]

जयस्वालजी इस गर्दभिल्लोच्छेद की घटना को ई० स० पूर्व १००-१०१ में रखते हैं।[८३]

राजाओं की कालगणना में जैन ग्रन्थों में भी कुछ गड़बड़ और अस्पष्ट बातें हैं। मुनिश्री कल्याण-विजयजी (जिनके मत से, गर्दभिल्लोच्छेदक आर्य कालक वह दूसरे आर्य कालक थे और उनका समय वीरात् ४५३ था) इस घटना के बारे में लिखते हैं—"घटनाओं के कालक्रम में हमने गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना निर्वाण संवत् ४५३ में बताई है; पर इसमें यह शंका हो सकती है कि इस घटना के समय यदि बलमित्र-भानुमित्र विद्यमान थे—जैसा कि 'कहावली' आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है—तो इस घटना का उक्त समय निर्दोष कैसे हो सकता है? क्यों कि मेरुतुङ्गसूरि की 'विचार-श्रेणि' आदि प्रचलित जैन-गणना के अनुसार बलमित्र-भानुमित्र का सत्ता-काल वीर-निर्वाण से ३५४ से ४१३ तक आता है। ऐसी दशा में यह कहना चाहिए कि गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना का उक्त समय (४५३) ठीक नहीं है, और यदि ठीक है तो यह कहना होगा कि बलमित्र-भानुमित्र का उक्त समय गलत है। और यदि उपर्युक्त दोनों समय ठीक माने जायँ तो अन्त में यह मानना ही पड़ेगा की गर्दभिल्लवाली घटना के समय बलमित्र-भानुमित्र विद्यमान न थे।"

मुनिजी आगे लिखते हैं—"गर्दभिल्लवाली घटना का समय गलत मान लेने के लिये हमें कोई कारण नहीं मिलता। बलमित्रभानुमित्र आर्य कालक के भानजे थे, यह बात सुप्रसिद्ध है; अत एव कालक के समय में इनका अस्तित्व मानना भी अनिवार्य है। रही बलमित्र-भानुमित्र के समय की बात, सो इसके सम्बन्ध में हमारा मत है कि उनका समय ३५४ से ४१३ तक नहीं, किन्तु ४१४ से ४७३ तक था। मौर्य-काल में से ५२ वर्ष छूट जाने के कारण १६० के स्थान में केवल १०८ वर्ष ही प्रचलित गणनाओं में लिये गए हैं। अत एव एकदम ५२ वर्ष कम हो जाने के कारण बलमित्र आदि का समय असङ्गत-सा हो गया है। हमने मौर्य राज्य के १६० वर्ष मान कर इस पद्धति में जो संशोधन[८४] किया है, उसके अनुसार कालकाचार्य और बलमित्र

८२. डा० जयस्वाल, **प्रॉब्लेम्स ऑफ शक–सातवाहन हिस्टरी,** जर्नल ऑफ बिहार ऑन्ड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी, वॉ० १६ (ई० स० १९३०), पृ० २३४.

८३. **वही,** पृ० २३४ से आगे.

८४. इसके लिए देखो, मुनिश्री कल्याणविजयजी कृत **वीरनिर्वाण-सम्वत् और जैन-कालगणना.**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समय में कुछ विरोध नहीं रह जाता।"[८५] मुनिश्री की यह समीक्षा तो शङ्का को बढ़ाती है कि गर्दभिल्लोच्छेद की घटना वीरात् ४५३ में मानना शुरू हुआ तब से कालगणना में गड़बड़ हो गई। डा० ब्राउन दूसरे कालक के बारे में लिखते हैं—

"Most versions make him the disciple of Guṇākara (= the sthavira Guṇasundara), but this must be an error; for on chronalogical grounds it must have been Kālaka I who was Guṇākara's disciple."[८६]

इससे तो यह मानना ज्यादा उचित है कि कथानकों से प्रथम कालक ही उद्दिष्ट हैं। डा. ब्राउन आगे लिखते हैं—

"The Kalpadruma and Samayasundara add an alternative tradition stating that Kālaka II was the maternal uncle of the kings Balamitra and Bhānumitra of Jain tradition, thus agreeing with a few versions of the Kālakāryakathā, although most of them identify the Kālaka who was the uncle of those kings with the Kālaka who changed the date of the Paryūṣaṇā....The year of Kālaka II is by all authorities said to be 453 of the Vīra era, in which year it is specifically stated in a stanza appended to three Mss. of Dharmaprabha's version that he took Sarasvatī. Possibly the statement is slightly inaccurate and the date refers to his accession to the position of *sūri*, just as in other stanzas appended to Mss. of the same version the year 335, which is the date of accession to the position of *sūri*, is mentioned as that of Kālaka I. Dharmasāgaraganin assigns the deeds of Kālaka II to Kālaka I."[८७]

पहले ही हम कह चुके हैं कि कथानकों में कालक का वर्ष नहीं बतलाया गया, किसी भाष्य या चूर्णि में भी नहीं। बलमित्र-भानुमित्र और पर्यूषणातिथि के बारे में भी पहले समीक्षा की गई है। धर्मप्रभ की रचना सं० १३९८ में हुई, मूल रचना में गर्दभिल्लोच्छेदक कालक वीरात् ४५३ में हुए ऐसा नहीं है। मूल में तो— "अह ते सग त्ति खाया, तव्वंस छंदिऊण पुण काले। जाओ विक्कमराओ, पुहवी जेणूरणी विहिया ॥ ३१ ॥"—इतना ही होने से विक्रम और कालक के बीच का समयान्तर अस्पष्ट है। डा० ब्राउन की तृतीय कालक की कल्पना ठीक नहीं है, मुनिश्री कल्याणविजयजी ने तृतीय कालक के विषय में ठीक ही समीक्षा की है। विस्तारभय से हम उस चर्चा को छोड़ देते हैं।

अब कथानकों को छोड़ कर पट्टावली आदि को देखें तो कल्पसूत्र स्थविरावली में दो कालक का कोई उल्लेख नहीं; और न इसमें किसी स्थविर के वर्ष आदि बताये गये। नन्दी-स्थविरावली जिसके प्राचीन होने में शङ्का नहीं है उसमें गर्दभिल्लोच्छेदक अन्य कालक का कोई उल्लेख नहीं है। दुष्षमाकाल श्री श्रमणसङ्घ स्तोत्र में 'गुणसुंदर, सामज्ज, खंदिलायरिय' का उल्लेख है किन्तु गाथा १३ में आर्य वज्रसेन,

---

८५. मुनिश्री कल्याणविजय, "आर्य-कालक," **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ,** पृ० ११७. मुनिश्री के इस कथनानुसार, नि० सं० ४५३ में गर्दभिल्ल को हटा कर, (ई० स० पू० ७४ में) शकराजा उज्जयिनी की गादी पर बैठा। और चार वर्ष के बाद नि० सं० ४५७ में (ई० स० पू० ७० में) बलमित्र ने उसको हटा कर उज्जयिनी पर अपना अधिकार जमाया। बलमित्र-भानुमित्र के राज्य का अन्त नि० सं० ४६५ (ई० स० पू० ६२) में हुआ।—**वही,** पृ० ११७ पादनोंध, १.

८६. **ध स्टोरी ऑफ कालक,** पृ० ६.

८७. ब्राउन, **वही,** पृ० ६, पृ० ७–१२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नागहस्ति, रेवतिमित्र, सिंह और नागार्जुन के बाद भूतिदिन्न और उनके बाद जिस 'कालक' का उल्लेख है वह कालक गर्दभिल्लोच्छेदक हो नहीं सकते क्यों कि द्वितीयोदयुगप्रधान-यन्त्र (पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृ० २३-२४) देखने से मालूम होगा कि इस कालक का समय (आर्य वज्र के शिष्य) वज्रसेन से ३६३ वर्ष के बाद होता है जो ईसा की तृतीय शताब्दि के बाद होगा। धर्मसागरगणि की तपागच्छ-पट्टावली (पट्टावली-समुच्चय, भाग १, पृ० ४१-७७) में श्यामार्य वीरात् ३७६ में स्वर्गवासी हुए और उनके शिष्य जितमर्यादाकृत् सांडिल्य थे ऐसा लिखा है। आगे इन्द्रदिन्नसूरि के बाद, वीरात् ४५३ वर्ष में गर्दभिल्लोच्छेदक कालकसूरि का उल्लेख है। इस पट्टावली का रचनाकाल वि० स० १६४६ है। किन्तु यह तो बहुत पीछे की पट्टावली है। दुष्षमाकाल श्री श्रमणसङ्घस्तोत्र तो विक्रम की तेरहवीं शताब्दि का है। उस स्तोत्र की अवचूरि का समय निश्चित नहीं है। इस अवचूरि में निम्नलिखित विधान है—

×××× मोरिअरज्जं १०८ तत्र-महागिरि ३० सुहस्ति ४६ गुणसुन्दर ३२, ऊनवर्षाणि १२॥ ×××× एवं (वीरनिर्वाणात् वर्षाणि ३२३॥

राजा पुष्यमित्र ३० बलमित्र-भानुमित्र ६० (तत्र)—गुणसुन्दरस्येव शेष वर्षाणि १२ कालिके ४ (४१) खंदिल ३८॥ एवं वर्षाणि ४१३॥

राजा नरवाहन ४० गर्दभिल्ल १३ शाक ४ (तत्र)—रेवतिमित्र ३६ आर्यमङ्गुधर्माचार्य २०॥ एवं वर्षाणि ४७०॥

अत्रान्तरे-बहुल सिरिव्वय स्वामि (स्वाति) हारित श्यामाऽऽर्य शाण्डिल्य आर्य आर्यसमुद्रादयो भविष्यन्ति।

तह गद्दभिल्लरज्जस्स, छेयगो कालगारिओ होही।
छत्तीसगुणोवेओ, गुणसयकलिओ पहाजुत्तो॥१॥

वीरनिर्वाणात् ४५३ भरुअच्छे खपुटाचार्याः वृद्धवादी पंचकल्पविच्छेदो जीतकल्पोद्धारः.....॥

धर्माचार्यस्येव शेषवर्षाणि २४ भद्रगुप्त ३९ श्रीगुप्त १५ वज्रस्वामी ३६। एवं सर्वाङ्क ५८४॥ गर्दभिल्लनिवसुत विक्रमादित्य ६० धर्मादित्य ४० भाइल्ल ११॥ एवं ५८१॥ (पट्टावली-समुच्चय, १, पृ० १७).

इस अवचूरि अन्तर्गत गाथा में यह स्पष्ट नहीं है कि वीरात् ४५३ में (गर्दभिल्लोच्छेदक) द्वितीय कालक हुए। किन्तु विचारश्रेणि की गणनासे मिलती इस (अवचूरि की) नृपकालगणना से गर्दभिल्ल का समय वीरात् ४५३ होता है। मगर नृपकालगणना शङ्का से पर नहीं है, विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र कहने के लिए कोई कालककथानक का या चूर्णि या भाष्य का प्रमाण उपलब्ध नहीं। और ४५३ में गर्दभिल्लोच्छेद करने वाले कालक के समय में बलमित्र-भानुमित्र हो नहीं सकते। फिर बलमित्र-भानुमित्र के बाद गर्दभिल्ल के १३ वर्ष गिनना और गर्दभिल्लों के १०० या १५२ वर्ष का मेल प्राप्त करने के लिए विक्रमादित्य, धर्मादित्य, भाईल्ल और नाइल्ल को गर्दभिल्लवंश के मानना ये सब बातें अभी शङ्कायुक्त ही हैं। खुद मेरुतुङ्ग को भी दो बलमित्र-भानुमित्र होने का विचित्र अनुमान खींचना पड़ा।[८८] आर्य खपुट का कार्यप्रदेश भरोच था, कालकाचार्य का भी भृगुकच्छ से सम्बन्ध है। मगर दोनों समकालीन थे (वीरात् ४५३) ऐसा जैन-

८८. मेरुतुङ्ग लिखते हैं—"बलमित्रभानुमित्रौ राजानौ ६० वर्षाणि राज्यमकार्ष्टाम्। यौ तु कल्पचूर्णौ चतुर्थीपर्वकर्तृकालकाचार्यनिर्वासकौ उज्जयिन्यां बलमित्रभानुमित्रौ तावन्यावेव।" इस विषय में मुनिश्री कल्याणविजयजी के विवेचन के लिए देखो, **वीरनिर्वाण संवत्**०, पृ० ५६-५७ और पादनोंध, जिसमें तित्थोगाली पइन्नय के नाम से कैसी गाथायें पीछे के ग्रन्थों में घुस गई हैं इसका मुनिजी ने अच्छा विवेचन किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकारों का (मध्यकालीन पट्टावलियों के अलावा) कहीं भी उल्लेख नहीं। मौर्यों के १०८ वर्ष की हकीकत भी मान्य नहीं हो सकती। डा० जयस्वालजी के कथनानुसार अगर मौर्यों के शेष वर्ष रासभों में बढ़ा कर किसी तरह वीरात् ४७० में विक्रम का हिसाब जोड़ा गया तब यह स्पष्ट है कि इन पट्टावलियों की नृप-कालगणना शङ्कारहित नहीं है, इनमें और भी गलती हो सकती है। इस गड़बड़ का कारण यह है कि प्रथम शकराज्य के बाद कितने वर्ष व्यतीत होने पर विक्रमादित्य हुआ यह स्पष्ट मालूम न होने से विक्रम और कालक को नज़दीक लाने की प्रवृत्ति हुई। एक से ज्यादा कालक नामक आचार्य हुए होंगे किन्तु घटनाओं के नायक तो प्रथम कालक ही हैं जो कि अन्य तर्कों से पहले ही हमने देख लिया है।

मुनिश्री कल्याणविजयजी के मत से बलमित्र ही विक्रमादित्य है। और उनके मत से गर्दभिल्लोच्छेदक द्वितीय कालक वीरात् ४५३ में हुए। मगर बलमित्र यदि विक्रमादित्य है तब वह गर्दभिल्ल का पुत्र नहीं हो सकता। और मेरुतुङ्ग या उपरोक्त अवचूरि के बयान तब व्यर्थ प्रतीत होते हैं।

वीरात् ४५३ में गर्दभिल्लोच्छेदक कालक होने के सब आधार मध्यकालीन उन्ही परम्पराओं के हैं जिनमें कालगणना की ऐसी गड़बड़ी है। कालककथानक तो गर्दभिल्लोच्छेदक कालक के गुरु गुणसुन्दर या गुणाकर को ही बताते हैं। वह कालक श्यामार्य ही हैं जिन्होंने प्रज्ञापनासूत्र बनाया। उपलब्ध प्रज्ञापना अगर मूल प्रज्ञापना नहीं हो, तो भी उस में मूल का संस्करण और मूल के कई अंश ज़रूर होंगे। यही प्रज्ञापना सूत्र उसके लेखक का देशदेशान्तर के लोगों का ज्ञान, भिन्न भिन्न लिपियों का ज्ञान आदि साक्षी देता है जो गर्दभिल्लोच्छेदक और सुवर्णभूमि में जानेवाले कालक में हो सकता है। प्रज्ञापनासूत्र के विषय ही उनके कर्ता निगोद-व्याख्याता होने का सूचन करते हैं।

विचारश्रेणि में स्थविरों के पट्टप्रतिष्ठाकाल बतानेवाली गाथायें दी हैं। वही मुनिश्री कल्याणविजयजी से उद्दिष्ट "स्थविरावली या युगप्रधानपट्टावली" है जिसकी हस्तप्रत मुनिश्री ने देखी है। वह हस्तप्रत या वह रचना विचारश्रेणि से कितनी प्राचीन है यह किसी को मालूम नहीं। विचारश्रेणि-अन्तर्गत गाथायें भी मेरुतुङ्ग से कितनी प्राचीन हैं यह कहना मुश्किल है। इस स्थविरावली की गाथाओं (पहले हम दे चूके हैं) में "रेवइमित्ते छत्तीस, अज्जमङ्गु अ वीस एवं तु। **चउसय सत्तरि, चउसयतिपन्ने कालगो जाओ॥** चउवीस अज्जधम्मे एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ।" इत्यादि में पट्टधरों की वीरात् ४७० तक की परम्परा बताने के बाद ४५३ में कालक हुए ऐसा विधान है। पर इससे तो यह सूचित होता है कि ये द्वितीय कालक युगप्रधान नहीं हैं और न उनके आगे युगप्रधानपट्टधर (या गुरु) ग्रन्थकर्ता को मालूम हैं। इन गाथाओं में अगर कालक भी युगप्रधानपट्टधर हैं तब एक साथ ऐसे दो आचार्य युगप्रधानपट्टधर हो जाते हैं जैसा कि इस स्थविरावली का ध्वनि नहीं है। अतः यह सम्भवित है कि "चउसय तिपन्ने कालगो जाओ" यह बात प्राचीन युगप्रधानपट्टावलिओं में पीछे से बढ़ाई गई है। प्रथम शकराज्य के बारे में वास्तविक वर्षगणना बाद के लेखकों को दुर्लभ होने से और किसी तरह विक्रम के समय के नज़दीक ही कालक को और प्रथम शकराज्य को लाने के खयाल से यह वीरात् ४५३ में कालक के होने की कल्पना घुस गई होगी। उपलब्ध सब पट्टावलियों में प्राचीन हैं कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियाँ, मगर इनमें वीरात् ४५३ में रख सकें ऐसा कोई कालक का उल्लेख नहीं है। पट्टावली-समुच्चय, भाग १ में दी हुई सब अन्य पट्टावलियाँ विक्रम की तेरहवीं सदी या उसके बाद की हैं। डा० क्लाट की पट्टावलियाँ भी वि० सं० की १६ वीं शताब्दि के बाद की हैं।[८९]

८९. देखो, क्लाट महाशय का लेख, इन्डिअन एन्टिक्वेरि, वॉ० ११, पृ० २४५ से आगे. डा० याकोबी, डा० लॉयमान आदि के पट्टावली-विषयक लेखों की सूचि के लिए देखो, ब्राउन, **ध स्टोरी ऑफ कालक,** पृ० ५ पादनोंध २३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालक विषय के पहले विभाग के (चूर्णिभाष्य आदि के) सर्व सन्दर्भों से हम सिद्ध कर चुके हैं कि सभी घटनायें एक-कालक-परक हैं और वह हैं आर्य श्याम। उनके बाद आर्य शाण्डिल्य और शाण्डिल्य के बाद हुए आर्य समुद्र। सभी थेरावलियों और पट्टावलियों में इन्ही आर्य समुद्र के अलावा किसी आचार्य के लिए "तिसमुद्दखायकित्तिं दीवसमुद्देसु गहिय पेयालं" जैसे शब्दप्रयोग नहीं हुए। अतः यही आर्य समुद्र सुवर्णभूमि जाने वाले सागर श्रमण हैं। और सुवर्णभूमि जानेवाले और गर्दभराजोच्छेदक आर्य कालक एक हैं यह तो मुनिश्री कल्याणविजयजी को स्वीकृत है। अतः वह कालक श्यामार्य ही हैं।

प्राचीन जैन परम्परानुसार वीर निर्वाण ई० स० पूर्व ५२७ में माना जाय, तब श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व १९२ से १५१; और डा० याकोबी आदि पण्डितों के मतानुसार निर्वाण ई० स० पू० ४६७ में मानें, तब श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व १३२ से ९१ तक। इसी समय में भारत में शकों का प्रथम आगमन हुआ। खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए लेखों और मथुरा के अन्य कतिपय लेखों के अध्ययन से यह तो सर्व पण्डितों को स्वीकार्य है कि दो तरह के शक सम्वत् चले थे: एक Old Śaka era = प्राचीन (मूल) शक सं० और दूसरा चालू (ई० स० ७८ में शुरू हुआ वह) शक सम्वत्। प्राचीन शक सम्वत् के प्रथम वर्ष के बारे में भिन्न भिन्न मत हैं। इन सब की समीक्षा डा० लोहुइझेन-द-ल्यु ने अपने ग्रन्थ 'ध सिथिअन पिरिअड' में की है। डा० लोहुइझेन-द-ल्यु के मत से प्रथम शक सं० ई० स० पू० १२९ में शुरू हुआ, प्रो० रॅप्सन के खयाल से ई० स० पू० १५० में, प्रो० टार्न के मत से ई० स० पू० १५५ में, डा० जयस्वाल के मत से ई० स० पू० १२० में। इस तरह भिन्न भिन्न मत हैं किन्तु डा० लोहुइझेन-द-ल्यु और जयस्वाल के मत वास्तविक हकीकत से ज्यादा नज़दीक हैं। इन सब मतों की चर्चा श्री० एम० एन० सहा ने जर्नल ऑफ ध एशिआटिक सोसाइटि (बेन्गाल), लेटर्स, वॉ. १९, (ई०स० १९५३), अङ्क १, पृ० १-२४ में की है और वहाँ बताया है कि प्रथम शक सम्वत् ई० स० पू० १२३ में हुआ होगा। यह समय शकों और यू-ची की बक्त्रिया में पार्थिअनों पर के विजय का है। इसके बाद थोड़े ही समय में मिथ्रदात दूसरा (Mithradates II) नामक पार्थिअन राजा ने शकों को फिर भगाये।[९०] यही समय है जब शक भारत की ओर आये।

इससे हमारे खयाल में श्यामार्य का समय ई० स० पूर्व १३२ से ई० स० पूर्व ९१ तक मानना ज्यादा उचित है। ई० स० पूर्व ५८ में विक्रम संवत् (मालव सं०) चला उस समय कालकाचार्य जीवित थे ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः कालक के समय का ई० स० पू० ९१ के बाद ही होना आवश्यक नहीं।

कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, उनका समय ऊपर के दो समय में से एक है, इसी समय गर्दभ का उच्छेद हुआ, इसी समय में कालक सुवर्णभूमि में गये। अन्य कालकाचार्य हुए होंगे[९१] किन्तु वे सब कथानकों की घटनाओं के नायक नहीं हैं इतना निश्चित है। अब भारतीय इतिहास के पण्डितों से प्रार्थना है कि गर्दभ, गर्दभिल्ल, विक्रमादित्य आदि के कूट प्रश्नों के निराकरण ढूँढने के पुनः प्रयत्न करें।

---

९०. देखो, डा० लोहुइझेन-द-ल्यु, डा० एम० एन० सहा आदि के लेख, ग्रंथ और, डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय कृत, **ध शकझ इन इन्डिआ** (विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, १९५५), पृ० ६. प्रो० राप्सन लिखते हैं—
It was in his reign that the struggle between the kings of Parthia and their Scythian subjects in Eastern Iran was brought to a close and the suzerainty of Parthia over ruling powers of Seisthan and Kandahar confirmed (Cambridge Hist. of India, Vol. I. p. 567).

९१. देखो, **वीर निर्वाण सम्वत् और जैनकालगणना** पृ० १२५ से पृ० १२८ पर पादनोंध में दी हुई देवर्द्धि गणिक्षमाश्रमण की गुर्वावली, और वालभी युगप्रधान पट्टावली। वालभी पट्टावली के नं० २७ वाले कालकाचार्य के अन्तिम वर्ष निर्वाण सम्वत् ९९३ में वलभी में पुस्तकोद्धार हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट १

दत्तराजा और आर्यकालक

दत्त राजा के सामने यज्ञफल का निरूपण करनेवाली घटना (घटना नं. १) का उल्लेख आवश्यकचूर्णि के अतिरिक्त 'आवश्यक निर्युक्ति' में दो स्थानों में है।[९२] मुनिश्री कल्याणविजयजी के खयाल के अनुसार इस घटना का सम्बन्ध सम्भवतः प्रथम कालकाचार्य से है।[९३] 'आवश्यक-निर्युक्ति' की एक गाथा (८६५) में उल्लिखित सामायिक के आठ दृष्टान्तों में तीसरा दृष्टान्त आर्यकालक का है जिन का वर्णन आव० चूर्णि में इस प्रकार मिलता है। "तुरुविणी नगरी में 'जितशत्रु' नामक राजा था। वहाँ 'भद्रा' नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी जिसके पुत्र का नाम 'दत्त' था। भद्रा का एक भाई था जिसने जैन मत की दीक्षा ली थी, उसका नाम था 'आर्य कालक'। दत्त जुआड़ी और मदिरा-प्रसङ्गी था। वह राजसेवा करते करते प्रधान सैनिक के पद तक पहुँच गया। पर अन्त में उसने विश्वासघात किया। राजकुल के मनुष्यों को फोड़कर उसने राजा को कैद किया और स्वयं राजा बन बैठा। उसने बहुत से यज्ञ किये। एक बार वह अपने 'मामा' कालक के पास जाकर बोला कि मैं धर्म सुनना चाहता हूँ; कहिए यज्ञों का फल क्या है? कालक ने उसको धर्म का स्वरूप, अधर्म का फल और अशुभ कर्मों के उदय को समझाया और पूछने पर कहा कि यज्ञ का फल नरक है। दत्त ने इस का प्रमाण पूछा तो कालक ने बताया कि "आज से सातवें दिन तू कुंभी में पकता हुआ कुत्तों से नोचा जायगा।" दत्त ने कालक को कैद किया मगर ठीक वैसा ही हुआ जैसा भविष्य कथन आर्य कालक ने किया था।

ग्रन्थकार लिखते हैं—"इस प्रकार सत्य बचन बोलना चाहिए, जैसे कालकाचार्य बोले।" इस कथानक का संक्षिप्त सार 'आवश्यक निर्युक्ति' की निम्नलिखित गाथा में भी सूचित किया है—

दत्तेण पुच्छिओ जो, जण्णफलं कालगो तुरुमिणीए।
समयाए आहिएणं संमं वुइयं भयं तेणं ॥ ८७१ ॥

मुनिश्री कल्याणविजयजी लिखते हैं कि "जब तक चौथे कालक का अस्तित्व सिद्ध न हो, इस सातवीं घटना का सम्बन्ध पहले कालक से मान लेना कुछ भी अनुचित नहीं है।"

परिशिष्ट २

घटना नं. ५—गर्दभ-राजा का उच्छेद

गर्दभिल्लोच्छेद वाली घटना[९४] के साथ दो स्थलों का उल्लेख है—उज्जयिनी और पारसकूल। निशीथचूर्णि में पारसकूल का उल्लेख है। वहाँ से साहिराजा और उनके साथ दूसरे ९५ साहियों को लेकर आर्य कालक "हिन्दुक-देश" को आते हैं। इस प्रकार ये ९५ या ९६ साहि (शक-कुलों) समुद्रमार्ग से सौराष्ट्र में आये।

---

९२. द्वि० अभि० ग्रं० पृ० ९७.

९३. वही पृ० ११४-१५.

९४. निशीथचूर्णिगत इस घटना के बयान के लिये देखो, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९८-९९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन स्थलों के बारे में कथाओं में कुछ गड़बड़ हुई है जिसकी मुनिश्री कल्याणविजयजी ने अच्छी तरह छानबिन की है। आप लिखते हैं—

"प्राकृत कालक कथा में 'पारसकूल' की जगह 'शककूल' नाम मिलता है। प्रभावकचरित्रान्तर्गत कालक-प्रबन्ध में इस स्थान का नाम 'शाखिदेश' लिखा है। कल्पसूत्रमूल के साथ छपी हुई संस्कृत 'कालक-कथा' में इस स्थान को 'सिंधु नदी का पश्चिम पार्श्वकूल' लिखा है। फिर 'हिमवन्तथेरावली' में इस स्थल का नाम सिंधु देश कहा है। इन भिन्न-भिन्न नामों में हमारी संमति में **'पारसकूल' नाम ही सही है**, जिसका उल्लेख इस विषय के सबसे पुराने ग्रंथ 'निशीथचूर्णि' में है।[९५] ×××× पारस-कूल का अर्थ फारस का किनारा होगा। ×× क्यों कि वहाँ के निवासी लोग शकजाति के हैं, अतः उस प्रदेश का 'शककूल' नाम भी संगत है। ××××× कालक कथाओं में सिंधु नदी पार होकर सौराष्ट्र में कालकाचार्य के आने का उल्लेख है, पर यह भ्रान्तिशून्य नहीं है; क्योंकि **सिंधु नदी पार करके पंजाब अथवा सिंध में जा सकते हैं, सौराष्ट्र में नहीं**। परंतु यह बात तो सभी लेखक एक-स्वर से स्वीकार करते हैं कि कालकाचार्य सौराष्ट्र में ही उतरे थे। यदि वे साहियों के साथ सिंधु नदी पार कर हिन्दुस्थान में आये होते, तो सौराष्ट्र में किसी प्रकार न उतर सकते। **इससे यही सिद्ध होता है कि वे सिंधु-नदी नहीं, बल्कि सिंधु-समुद्र के द्वारा सौराष्ट्र में उतरे थे**। 'निशीथचूर्णि' में तो सौराष्ट्र में ही उतरने का उल्लेख है, वहाँ सिंधु नदी का नामोल्लेख नहीं है। संभव है, सिंधु के साथ नदी शब्द पीछे से जुड़ा गया है।"[९६]

मुनिजी की यह समीक्षा महत्त्व की है। इससे कालक का समुद्रयान-ज़हाज़यान सिद्ध होता है। अगर यह बात सही है तब तो कालक के सुवर्णभूमिगमन (हिंदी-चीन आदि देशों में गमन) के वृत्तान्त में पुराने खयाल के जैन श्रावकवर्ग और साधुगण को भी शङ्का न होनी चाहिये। कालकाचार्य सुवर्णभूमि में खुश्की रास्ते से ही गये होंगे। किसी को शङ्का हो सकती है कि वे दुर्गम खुश्की रास्ते से नहीं जा सकते और ज़ाहाज़ी रास्ते से साधु जाते नहीं, किन्तु कालकाचार्य के विषय में यह शङ्का भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि आर्य कालक शकों के साथ ज़ाहाज़ी रास्ते से आये होंगे ऐसा मुनिजी का मत है। वह मत ठीक लगता है। फिर अनाम के ग्रन्थ में जो लिखा है कि कालाचार्य अनाम से ज़हाज़-यान से टोन्किन (दक्षिण चीन) में गये थे यह विधान भी अशक्य नहीं लगेगा।

परिशिष्ट ३

रत्नसञ्चय प्रकरण की गाथाओं पर मुनिश्री कल्याणविजयजी

मुनिश्री कल्याणविजयजी इन गाथाओं के बारे में लिखते हैं—" जहाँ तक हमने देखा है श्यामार्य नामक प्रथम कालकाचार्य का सत्ताकाल सर्वत्र निर्वाण सं. २८० में जन्म, ३०० में दीक्षा, ३३५ में युगप्रधानपद और ३७६ में स्वर्गवास ऐसा लिखा है। इनका सम्पूर्ण आयुष्य ९६ वर्ष का था। ये 'प्रज्ञापनाकार' और 'निगोदव्याख्याता' नामों से भी प्रसिद्ध थे। इन सब बातों का विचार करने के बाद यह कहना लेश भी अनुचित न होगा कि उक्त 'प्रकरण' की गाथा में जो प्रथम कालकाचार्य का निरूपण किया गया है, वास्तव में वही सत्य है।"

९५. उन के ख्याल से पारसकुल नहीं किन्तु पारसकूल शब्द होना चाहिये, देखो **वही**, पृ० ११०, पादनोंध, १, २, ३.

९६. **वही**, पृ. ११०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे कालक का समय—गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य का समय—निर्वाण सं० ४५३ है, और इन दूसरे कालक की हस्ति को मुनिश्री ठीक मानते हैं। आगे आप लिखते हैं—"तीसरे कालकाचार्य के सम्बन्ध में हम निश्चित अभिप्राय नहीं व्यक्त कर सकते। कारण, निर्वाण सं० ७२० में कालकाचार्य के अस्तित्व-साधक इस गाथा के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा कारण यह भी है कि गाथा में इन कालकाचार्य को 'शक्रसंस्तुत' कहे हैं, जो सर्वथा असङ्गत है, क्यों कि शक्रसंस्तुत कालकाचार्य तो वही थे, जो 'निगोद-व्याख्याता' के नाम से प्रसिद्ध थे। युगप्रधान स्थविरावली के लेखानुसार यह विशेषण प्रथम कालकाचार्य को ही प्राप्त था।

"चौथे कालकाचार्य को चतुर्थी-पर्यूषणा-कर्ता लिखते हैं, जो ठीक नहीं। यद्यपि 'वालभी युगप्रधान पट्टावली' के लेखानुसार इस समय में भी एक कालकाचार्य हुए अवश्य हैं—जो निर्वाण सं० ९८१ से ९९३ तक युगप्रधान थे, पर इनसे चतुर्थी पर्यूषणा होने का उल्लेख सर्वथा असङ्गत है।"[९७]

इस चतुर्थ कालक के विषय में मुनिजी आगे लिखते हैं—"वर्धमान से ९९३ वर्ष व्यतीत होने पर कालकसूरिद्वारा पर्यूषणा चतुर्थी की स्थापना हुई ऐसी एक प्राकरणिक गाथा है जो तित्थोगाली पइन्नय से ली गई है ऐसा संदेहविषौषधि ग्रन्थ के कर्ता का उल्लेख है। मगर वह ठीक नहीं; और उपाध्याय धर्म-सागरजी ने अपनी कल्पकिरणावली में भी बताया है कि यद्यपि यह गाथा धर्मघोषसूरिरचित कालसप्तति में देखने में आती है तथापि तीर्थोद्गार प्रकीर्णक में यह गाथा देखने में नहीं आती[९८]." आगे मुनिश्री ने बताया है कि बारहवीं सदी में चतुर्थी की फिर पञ्चमी करने की प्रथा हुई तब चतुर्थी पर्यूषणा को अर्वाचीन ठहराने के खयाल से किसीने यह गाथा रची।[९९]

इन सब बातों से यह स्पष्ट होना चाहिये कि एक से ज्यादा कालक की परम्परायें शङ्कारहित हैं ही नहीं। एक नाम के अनेक आचार्य हुए इससे, और ज्यों ज्यों घटनाओं की हकीकत प्रथम कालक के साथ जोड़ने में शङ्का हुई त्यों त्यों या ज्यों ज्यों विक्रम और शक और तत्कालीन नृपविषयक ऐतिहासिक हकीकत विस्मृत होने लगी और परम्परायें विच्छिन्न होती गईं, त्यों त्यों ये मध्यकालीन ग्रन्थकार व्यामोह में पड़ते गये और घटनाओं को भिन्न भिन्न कालक के साथ जोड़ते गये। तिथि के निर्णय में या श्रुत का पुन संग्रह करने में जिन्हों ने बार बार कुछ हिस्सा लिया उनको कालकाचार्य का विरुद मिला हो ऐसा भी हो सकता है। ये बातें विशेष अनुसन्धान के योग्य हैं।

मुनिजी ने एक और गाथा की समीक्षा है जिसका भी उल्लेख करना चाहिये। आप लिखते हैं—

"उपर्युक्त गाथाओं के अतिरिक्त कालकाचार्य विषयक एक और गाथा मेरुतुङ्ग की 'विचार-श्रेणि' के परिशिष्ट में लिखी मिलती है, जिसमें निर्वाण सम्वत् ३२० में कालकाचार्य का होना लिखा है। उस गाथा[१००] का अर्थ इस प्रकार है—"वीर जिनेन्द्र के ३२० वर्ष बाद कालकाचार्य हुए, जिन्होंने इन्द्र को प्रतिबोध दिया।" इस गाथा से कालकाचार्य के अस्तित्व की सम्भावना की जा सकती है पर ऐसा करने की

---

९७. मुनिश्री कल्याणविजय, **आर्य कालक**, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९६–९७.

९८. **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ११८–११९.

९९. **वीरनिर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना**, पृ० ५६–५८ की पादनोंध.

१००. गाथा इस तरह है —
सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई आवश्यकता नहीं है। शक्रप्रतिबोध के निर्देश से ही यह स्पष्ट है कि उक्त गाथोक्त वे ही हैं जिनका वर्णन 'युगप्रधान' के रूप में 'निगोद-व्याख्याता' विशेषण के साथ, युगप्रधान-स्थविरावलियों में किया गया है।" [१०१] जब इन्द्रप्रतिबोधक निगोद-व्याख्याता प्रथम कालक ही हैं तब उत्तराध्ययन-निर्युक्तिगाथा के आधार से सुवर्णभूमि को गये होंगे यह भी मानना चाहिये।

परिशिष्ट ४

निमित्तशास्त्रज्ञ आर्य कालक

निशीथ चूर्णि, उद्देश १, पृ० ७० में निम्नलिखित उल्लेख है—"इदाणिं विज्जत्ति अस्य व्याख्या विज्जट्ठा उभयं सेवेत्ति। उभयं णाम पासत्थ गिहत्था ते विज्जमंतजोगादिणिमित्तं सेवेत्यर्थः।" इस तरह विद्याप्राप्ति के निमित्त साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिये ऐसी प्राचीन शास्त्रकार की अनुज्ञा का उपयोग कालकाचार्य के जीवन में देखने में आता है। निमित्त ज्ञान इन्होंने आजीवक-मत के साधुओं से प्राप्त किया। इस घटना का स्फोट करनेवाला पञ्चकल्पचूर्णिगत उल्लेख हम पहले दे चुके हैं। कालकाचार्य ने जो ग्रन्थ बनाये उनका उल्लेख पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि में इसी घटना के साथ ही मिलता है और हम इस को देख चुके हैं।

मुनिश्री कल्याणविजयजी इस विषय में कुछ और साक्षी भी देते हैं। आप लिखते हैं—"पाटन के ताड़पत्रीय पुस्तक भंडार में, ताड़पत्र पर लिखे हुए एक प्रकरण (लगभग चौदहवीं सदी में लिखे हुए इस प्रकरण का नाम मालूम नहीं हुआ) में, हमने एक प्राकृत गाथा पढ़ी थी, जिसका आशय यह है—कालकसूरि ने प्रथमानुयोग में जिन, चक्रवर्ती, वासुदेव, आदि के चरित्र और उनके पूर्वभवों का वर्णन किया और लोकानुयोग में बहुत बड़े निमित्तशास्त्र की रचना की। ×××भोजसागरगणि नामक जैन विद्वान् ने संस्कृतभाषा में रमल-विद्या-विषयक एक ग्रंथ लिखा है। उसमें उन्हों ने लिखा है कि पहले-पहल यह विद्या कालकाचार्य के द्वारा यवन-देश से यहाँ लाई गई थी। किन्तु रमल-विद्या को यवन-देश से चाहे कालकाचार्य लाए हों या न भी लाए हों; पर इससे तो इतना सिद्ध ही है कि निमित्त अथवा ज्योतिष-विद्या के जैन विद्वान् लोग कालकाचार्य को अपने पथ का आदि-पथिक समझते थे।" [१०२]

मुनिजी लिखते हैं—"आर्य कालक दिग्गज विद्वान् के अतिरिक्त एक क्रांतिकारी पुरुष भी थे। विद्वत्ता के कारण उनकी जितनी प्रसिद्धि है उस से कहीं अधिक उनके घटनामय जीवन से है। ×× आर्य कालक का प्रत्येक जीवन-प्रसङ्ग साधुस्थिति के सामान्य जीवन-लक्षण से कुछ आगे बढ़ा हुआ है।" [१०३]

कालक के जीवन की घटनाओं में जो दो तत्त्व सर्वसाधारण हैं, वे सब घटनाओं में हैं—एक इनका निमित्तज्ञान और दूसरा उनका क्रान्तिकारी, साहसिक नीडर जीवन।

---

१०१. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९६-९७.

१०२. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १०५.

१०३. वही, पृ० १०५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ५

उत्तराध्ययननिर्युक्ति और चूर्णि के संदर्भ

उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए।
इंदो आउयसेसं पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥ १२० ॥

उत्तराध्ययननिर्युक्ति, २ अध्ययन

'उज्जेणी कालखमणा' गाथा (११६-१२७) उज्जेणीए अज्जकालगा आयरिया बहुस्सुया, तेसिं सीसो न कोइ नाम इच्छइ पढिउं, तस्स सीसस्स सीसो बहुस्सुओ सागरखमणो नाम सुवन्नभूमीए गच्छेण विहरइ, पच्छा आयरिया पलाथिंतु तत्थ गता सुवण्णभूमीं, सो य सागरखमणो अणुयोगं कहयति पण्णा-परिसहं न सहति, भणंति-खंता! गतं एयं तुब्भ सुयक्खंधं जावोकधिज्जतु, तेण भण्णति—गतंति, तो सुण, सो सुणावेउं पयत्तो, ते य सिज्जायरणिब्बंधे कहिते तस्सिसा सुवन्नभूमिं जतो वलिता, लोगो पुच्छति तं वृंदं गच्छंतं—को एस आयरिओ गच्छति? तेण भण्णति—कालगायरिया, तं जणपरंपरेण फुसंतं कोडुं सागरखमणस्स संपत्तं, जहा—कालगायरिया आगच्छंति, सागरखमणो भणति—खंत ! सच्चं मम पितामहो आगच्छति? तेण भण्णति—मयावि सुतं, आगया साधुणो, सो अब्भुट्ठितो, सो तेहिं साधूहिं भण्णति—खमासमणा केई इहागता? पच्छा सो संकितो भणति—खंतो एक्को परं आगतो, ण तु जाणामि खमासमणा, पच्छा सो खामेति, भणति—मिच्छामि दुक्कडं जंएत्थ मए आसादिया, पच्छा भणति—खमासमणा! केरिसं अहं वक्खाणेमि? खमासमणेण भण्णति—लट्ठं, किंतु मा गव्वं करेहि को जाणति कस्स को आगमोत्ति, पच्छा धूलिणाएण चिक्खिलपिंडएण य आहरणं करेंति, ण तहा कायत्वं जहा सागरखमणेण कतं, ताण अज्जकालगाण समीवं सक्को आगंतुं निगोयजीवे पुच्छति, जहा अज्जरक्खियाणं तथैव जाव सादिव्वकरणं च।

—उत्तराध्ययनचूर्णि, (ऋषभदेव केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम, ई० स० १६३३), पृ० ८३-८४ और देखिये, श्रीशान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन-बृहद्वृत्ति, भाग १, पृ० १२७-१२८।

परिशिष्ट ६

व्यवहारभाष्य और चूर्णि के संदर्भ

भाष्यगाथा—

पुरिसज्जाया चउरो वि भासियव्वा उ आणुपुव्वीए।
अत्थकरे माणकरे उभयकरे नोभयकरे य ॥ ३ ॥
पढमतइया एत्थं तु सफला निप्फला दुवे इयरे।
दिट्ठंतो सगतेणा सेवता अन्नेरायाणं ॥ ४ ॥
उज्जेणी सगरायं नीयागव्वा न सुट्ठु सेवेंति।
वित्तियदाणं चोज्जं निवेसया अण्णनिवे सेवा ॥ ५ ॥
धावयपुरतो तह मग्गतो या सेवइ य आसणं नीयं।
भूमियंपि य निसीयइ इंगियकारी उ पढमो उ ॥ ६ ॥
चिक्खेल अन्नया पुरतो उगतो से एगो नवरि सव्वतो।
तुट्ठेण तहा रन्ना विती उ सुपुक्खला दिन्ना ॥ ७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बितिओ न करे अट्ठं माणं च करेइ जाइकुलमाणी।
न निवसति भूमीए य न धावति तस्स पुरतो उ ॥ ८ ॥
सेवति ट्ठितो वि दिण्णेवि आसणे पेसितो कुणइ अट्ठं।
बिइओ भयकरो तइउ जुज्झइ य रणे सभामट्ठो ॥ ९ ॥
उभय निसेहो चऊत्थे वेइय चउत्थेहिं तत्थ न उ लद्धा।
विती इयरेहिं लद्धा दिट्ठं तस्सुवणतो उ ॥ १० ॥

—सभाष्य व्यवहारसूत्र, ४ प्रकृत, गाथा ३-१०, पृ० ९४-९५.

यहाँ भाष्यगाथा ५–७ की मलयगिरिकृत टीका देखिये—

"यदा कालिकाचार्येण शका आनीतास्तदा उज्जयिन्यां नगर्यां शको राजा जातः। तस्य निजकात्मीया एकेऽस्माकं जात्या सदृश इति गर्वात्तं न सुष्ठु सेवन्ते। ततो राजा तेषां वृत्तिं नादात्। अवृत्तिकाश्च ते चौर्यं कर्तुं प्रवृत्ताः। ततो राज्ञा बहुभिर्जनैर्विज्ञप्तेन निर्विषयाः कृताः ततस्तैर्देशान्तरं गत्वा अन्यस्य नृपस्य सेवा कर्तुमारब्धा। तत्रैकः पुरुषो राज्ञो गच्छत आगच्छतश्च पुरतो धावति तथा मार्गतश्च कदाचिद् धावति राज्ञश्च ऊर्ध्वस्थितस्योपविष्टस्य वा पुरतः स्थितः सेवते यद्यपि चोपविष्टः सन् (तं) राजानमनुजानाति तथापि स नीचमासनमाश्रयते। कदाचिच राज्ञः पुरतो भूमावपि निषीदति राज्ञश्चेङ्गितं ज्ञात्वाऽनाज्ञप्तोपि विवक्षितप्रयोजनकारी अन्यदा च राजा पानीयस्य कर्दमस्य मध्येन धावितः शेषश्च भूयान्लोको निःकर्दमप्रदेशेन गन्तुं प्रवृत्तः स पुनः शकपुरुषोऽश्वस्याग्रतः पानीयेन कर्दमेन च सेव्यमान एकः स तस्य पुरतो धावति ततस्तस्य राज्ञा तुष्टेन सुपुष्कला अतिप्रभूता वृत्तिर्दत्ता।" (व्यवहारभाष्य, उ० १०, पृ० ९४–९५).

इन गाथाओं के विषय में चूर्णि भी देखनी चाहिये।—

"उज्जेणी गाहाओ। यदा अज्जकालएण सका आणीता सो सगराया उज्जेणीए रायहाणीए तस्स संगणिज्जगा अम्हं जातीए सरिसोत्ति काउं गव्वेणं तं रायं ण सुट्ठु सेवन्ति। राया तेसिं वित्तिं ण देति। अवित्तीया तेण्णं आढत्तं काउं बहुजणेण विण्णविएण ते णिव्विसता कता। ते अण्णं रायं ओलग्गएण ट्ठाए उवगता। तत्थेगो पुरिसो रण्णो अतितणतस्स पुरओ धावति। अणया पाणिएयं चिक्खल्लं च मज्झेण पधावितो। अण्णो बहुजणो सुक्केण गतो। सो सगपुरुसो आसस्स अजाणितो पाणिएण चिक्खलेण य आसुट्ठएण सिव्वंतोवि पुरओ धावति। राया तुट्ठो.....।" (व्यवहारचूर्णि, हस्तलिखित प्रति, नं० १५८४, मुनिराज श्रीहंसविजय शास्त्रसंग्रह, बडोदा, पत्र २२१ अ).

परिशिष्ट ७

अनिलसुत यव-राजा, गर्दभ और अडोलिया

मा एवमसग्गाहं, गिण्हसु गिण्हसु सुयं तइयचक्खुं।
किं वा तुमेऽनिलसुतो, न स्सुयपुव्वो जवो राया ॥ ११५४ ॥

सौम्य! मैवमसद्ग्राहं गृहाण, गृहाण सूक्ष्म-व्यवहितादिष्वतीन्द्रियार्थेषु तृतीयचक्षुःकल्पं श्रुतम्। किं वा त्वया न श्रुतपूर्वोऽनिलनरेन्द्रसुतो यवो राजा? ॥ ११५४ ॥

कः पुनर्यवः? इत्याह—

जव राय दीहपट्ठो, सचिवो पुत्तो य गद्दभो तस्स।
धूता अडोलिया गद्दभेण छूढा य अगडम्मि ॥ ११५५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पव्वयणं च नरिंदे, पुणरागमऽडोलिखेलणं चेडा।
जवपत्थणं खरस्सा, उवस्सओ फरुससालाए ॥ ११५६ ॥

यवो नाम राजा। तस्य दीर्घपृष्ठः सचिवः। गर्दभश्च पुत्रः। दुहिता अडोलिका। सा च गर्दभेण तीव्ररागाध्युपपन्नेन 'अगडे' भूमिगृहे विषयसेवार्थं क्षिप्ता ॥ ११५५ ॥

तच्च ज्ञात्वा वैराग्योत्तरङ्गितमनसो नरेन्द्रस्य प्रव्रजनम्। पुत्रस्नेहाच्च तस्योज्जयिन्यां पुनः पुनरागमनम्। अन्यदा च चेटरूपाणामडोलिकया क्रीडनं खरस्य च यवप्रार्थनम्। ततश्चोपाश्रयः परुषः—कुम्भकारस्तस्य शालायामित्यक्षरार्थः ॥ ११५६ ॥

भावार्थः पुनरयम्—[१०४]

उज्जेणी नगरी। तत्थ अनिलसुओ जवो नाम राया। तस्स पुत्तो गद्दभो नाम जुवराया। तस्स धूया गद्दभस्स जुवरन्नो भइणी अडोलिया णाम, सा य अतीवरूववती। तस्स य जुवरन्नो दीहपट्ठो अमच्चो। ताहे सो जुवराया तं अडोलियं भगिणिं पासित्ता अज्झोववन्नो दुब्बलीभवति। अमच्चेण पुच्छिओ। निब्बंधे सिट्ठं। अमच्चेण भन्नति—सागारियं भविस्सति तो एसा भूमिघरे छुब्भति, तत्थ भुंजाहि ताए समं भोए, लोगो जाणिस्सति 'सा कहिं पि विनट्ठा'। 'एवं होउत्ति कयं'। अन्नया सो राया तं कज्जं नाउं निव्वेदेण पव्वतिओ। गद्दभो राया जातो। सो य जवो नेच्छति पढिउं, पुत्तनेहेण य पुणो पुणो उज्जेणिं एति। अन्नया सो उज्जेणीए अदूरसामंते जवखेत्तं, तस्स समीवे वीसमति। तं च जवखेत्तं एगो खेत्तपालओ रक्खति। इओ य एगो गद्दभो तं जवखेत्तं चरिउं इच्छति ताहे तेण खेत्तपालएण सो गद्दभो भन्नति—

आधावसी पधावसी ममं वा वि निरिक्खसी।
लक्खिओ ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दभा! ॥ ११५७ ॥[१०५]

अयं भाष्यान्तर्गतः श्लोकः कथानकसमाप्त्यनन्तरं व्याख्यास्यते, एवमुत्तरावपि श्लोकौ।

तेण साहुणा सो सिलोगो गहिओ। तत्थ य चेडरूवाणि रमंति अडोलियाए, उंदोइयाए त्ति भणियं होइ। सा य तेसिं रमंताणं अडोलिया नट्ठा बिले पडिया। पच्छा ताणि चेडरूवाणि इओ इओ य मग्गंति तं अडोलियं, न पासंति। पच्छा एगेण चेडरूवेण तं बिलं पासित्ता णायं—जा एत्थ न दीसति सा नूणं एयम्मि बिलम्मि पडिया। ताहे तेणं भन्नति—

इओ गया इओ गया, मग्गिज्जंती न दीसति।
अहमेयं वियाणामि, अगडे छूढा अडोलिया॥ ११५८ ॥

सो वि णेणं सिलोगो पढिओ। पच्छा तेण साहुणा उज्जेणिं पविसित्ता कुंभकारसालाए उवस्सओ गहिओ। सो य दीहपट्ठो अमच्चो तेणं जवसाहुणा रायत्ते विराहिओ। ताहे अमच्चो चिंतेति—'कहं एयस्स वेरं निज्जाएमि?' त्ति काउं गद्दभरायं भणति—एस परीसहपरातिओ आगओ रज्जं पेल्लेउकामो, जति न पत्तियसि पेच्छह से उवस्सए आउहाणि। तेण य अमच्चेण पुव्वं चेव ताणि आउहाणि तम्मि उवस्सए नूमियाणि पत्तियावणनिमित्तं। रन्ना दिट्ठाणि। पत्तिज्जिओ। तीए अ कुंभकारसालाए उंदुरो दुक्किउं दुक्किउं

---

१०४. यहाँ से आगे टीकान्तर्गत प्राकृत-कथानक बृहत्कल्पचूर्णि के पाठ से उद्धृत है, कुछ गौण फ़र्क है। इस लिए यहाँ चूर्णि का पाठ अवतरित नहीं किया है।

१०५. जासि पसि पुणो चेव, पासेसू टिरिटिल्लसि।
लक्खितो ते मया भावो जवं पत्थेसि गद्दभा ॥
इति रूपा गाथा बृहत्कल्पचूर्णौ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओसरति भएणं। ताहे तेणं कुम्भकारेणं भन्नति—

सुकुमालग! भद्दलया! रत्तिं हिंडणसीलया!।
भयं ते नत्थि मंमूला, दीहपट्ठाओ ते भयं॥ ११५६॥

सो वि णेण सिलोगो गहिओ। ताहे सो राया तं पियरं मारेउकामो रहं मग्गइ। 'पगासे उड्डाहो होहि' त्ति काउं अमच्चेण समं रत्तिं फरससालं अल्लीणो अच्छति। तत्थ तेण साहुणा पढिओ पढमो सिलोगो—

"आधावसी पधावसी".....॥ (गा० ११५७)[१०६]

रन्ना नायं—वेतिया मो, धुवं अतिसेसी एस साधू। तओ बितिओ पढिओ—"इओ गता इओ गता.....॥" (गा० ११५८)

तं पि णेणं परिगयं, जहा—नातयं (v. l. नायं) एतेण। तओ ततिओ पढिओ—"सुकुमालग! भद्दलया.....॥" (गा० ११५९)

ताहे जाणति—एस अमच्चो ममं चेव मारेउकामो, कओ ममं राता (राया) होऊं संते भोए परिच्चइत्ता पुणो ते चेव पत्थेति?, एस अमच्चो मं मारेउकामो एवं जत्तं करेइ। ताहे राया अमच्चस्स सीसं छेत्तं साहुस्स उवगंतुं सव्वं कहेइ खामेइ य॥

अथ श्लोकत्रयस्याक्षरार्थः—आ-ईषद् आभिमुख्येन वा धावसि आधावसि, प्रकर्षेण पृष्ठतो वा धावसि प्रधावसि, मामपि च निरीक्षसे, लक्षितस्ते मया 'भावः' अभिप्रायो यथा 'यवं' यवधान्यं चरितुं प्रार्थयसि भो गर्दभ। द्वितीयपक्षे यवनामानं राजानं मारयितुं भो गर्दभनृपते। प्रार्थयसीति प्रथमश्लोकः॥ ११५७॥

इतो गता इतो गता, मृग्यमाणा न दृश्यते, अहमेतद् विजानामि 'अगडे' भूमिगृहे गर्त्तायां वा क्षिप्ता 'अडोलिका' उन्दोयिका नृपतिदुहिता वा। द्वितीयश्लोकः॥ ११५४॥

मूषकस्य राज्ञश्च शरीरसौकुमार्यभावात् सुकुमारक! इत्यामन्त्रणम्, 'भद्दलग'त्ति भद्राकृते! रात्रौ हिण्डनशील! मूषकस्य दिवा मानुषावशोकनचकिततया राज्ञस्तु वीरचर्यया रात्रौ पर्यटनशीलत्वात्, भयं 'ते' तव नास्ति 'मन्मूलात्' मन्निमित्तात् किन्तु 'दीर्घपृष्ठात्' एकत्र सर्पात् अन्यत्र तु अमात्यात् 'ते' तव भयमिति तृतीयश्लोकः॥ ११५६॥

—**बृहत्कल्पसूत्र**, विभाग, २, प्रथम उद्देश, सूत्र १, भाष्यगाथा ११५७-६१, पृ० ३५६-३६१.

उपर्युक्त अवतरण की ओर विशेष ध्यान देना जरूरी है। सारी कथा ऐतिहासिक न हो किन्तु गर्दभ लगता है जिसका कालककथा से सम्बन्ध है। यहाँ भी उसका कामी स्वभाव प्रकटित है। अडोलिया नाम परदेशी (शायद किसी ग्रीक-यावनी) नाम का रूपान्तर लगता है। डा. शान्तिलाल शाह ने अपने ग्रन्थ में अनुमान किया है कि अनिलसुत वह Antialkidas है और गर्दभ वह Khardaa[१०७] है, यह हमें ठीक नहीं लगता, क्योंकि Antialkidas का अनिलसुत होना अशक्य है। और अनिल का सुत ऐसा अर्थ लें तब भी वह Antialkidas नहीं हो सकता और Khardaa (मथुरा के सिंह-ध्वज के लेख में उद्दिष्ट) इस Antialkidas का लड़का नहीं हो सकता। श्री० शान्तिलाल शाह का यह अनुमान कि "अणिलसुतो जवो णाम राया" कि जगह "अणिलसुतो णाम यवनो राया" होना चाहिये उससे भी पूरा संतोष नहीं होता क्योंकि उसका लड़का Khardaa नहीं है।

फिर भी गर्दभ कौन? इस विषय के संशोधन में सम्भव है यह अवतरण मदतरूप हो भी जाय! कालक के जीवन की घटनाओं के विषय में चूर्णियों के, कथानकों के अन्य अवतरण हम यहाँ नहीं देते क्योंकि वे सभी नवाब और डा० ब्राउन ने सङ्ग्रहीत किये हुए हैं।

१०६. गाथायें ११५७, ११५८, ११५९ उपर दी गई हैं इस लिए हमने यहाँ पूरी अवतारित नहीं की हैं।

१०७. शान्तिलाल शाह, **धं ट्रेडिशनल क्रॉनोलॉजि ऑफ धं जैनझ्** पृ० ६१,६८. मथुरा के सिंह-ध्वज में Khardaa के उल्लेख के लिए देखो **एपिग्राफिआ इन्डिका** वॉ० ९, पृ० १४०, १४७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

इस लेख का उद्देश्य है जैन साहित्यों की छानबीन करना। इस समीक्षा से हम निश्चितरूप से हक सकते हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। एक तो उन्होंने अनुयोगादि ग्रन्थों का निर्माण किया और दूसरा इन्हीं ग्रन्थों में से प्रव्रज्याविषयक कालकरचित गाथायें मिली हैं। निगोद-व्याख्यानकार, सुवर्णभूमि को जाने वाले, आर्य समुद्र के दादागुरु और अनुयोगनिर्माता, आजीविकों से निमित्त पढ़नेवाले और जिन्होंने सातवाहन राजा को मथुरा का भविष्य कहा था वह कालक आर्य श्याम ही हैं। इतना तो निश्चित ही है।

धर्मघोषसूरि ने श्रीऋषिमण्डलस्तव में प्रज्ञापनाकार श्यामार्य को प्रथमानुयोग और लोकानुयोग के कर्ता कालकसूरि कहा है। कालक के बाद उन्होंने आर्य समुद्र की स्तुति की है—

निज्जूढा जेण तया **पन्नवणा** सव्वभावपन्नवणा।
तेवीसइमो पुरिसो पवारो सो जयउ **सामज्जो** ॥ १८० ॥

पढमणुओगे कासी जिणचक्किदसारपुव्वभवे।
कालगसूरी बहुअं **लोगणुओगे निमित्तं** च ॥ १८१ ॥

अज्जसमुद्दगणहरे दुब्बलिए धिप्पए पिहू सव्वं।
सुत्तत्थचरमपोरिसिसमुट्ठिए तिण्णि किइकम्मा ॥ १८२ ॥

—**जैनस्तोत्रसन्दोह**, भाग १, पृ० ३२९–३०.

देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मघोषसूरि का लेखनसमय है। वि० सं० १३२०–१३५७ आसपास। अतः ई० स० की तेहरवीं शताब्दि में, सङ्घभाष्य आदि के कर्ता, श्रीधर्मघोषसूरि जैसे आचार्य भी श्यामार्य को ही अनुयोगकार कालकाचार्य मानते थे।

गर्दभराजोच्छेदक कालक भी वे ही आर्य श्याम हैं ऐसा हमारा मत है। किन्तु अभी भी अगर किसी को शङ्का रही हो, तो इनको यही देखना चाहिये कि बलमित्र-भानुमित्र और आर्य कालक का समकालीनत्व तो निश्चित ही है। पुराने ग्रन्थों का प्रमाण है। फिर पट्टावलियों की पट्टधर कालगणना या **स्थविरकालगणना** या नृपकालगणना जिनमें कहीं कहीं गड़बड़ है उनको छोड़ कर स्वतंत्र प्राचीन ग्रन्थ-साक्षियों से हमने बताया है कि गर्दभोच्छेदक कालक और दूसरी घटनाओं के नायक आर्य कालक एक ही हैं और वे गुणसुन्दर के शिष्य आर्यश्याम ही होने चाहिये। इनका समय ई० स० पूर्व पहली या दूसरी शताब्दि है।

जिनको दूसरे कालक (वीरात् ४५३) मंजूर है इन के हिसाब से भी कालक के सुवर्णभूमिगमन का समय इ० स० पूर्व पहली शताब्दि तो है ही।

कालक किसी सातवाहन राजा के समकालीन थे। वह राजा कौन था? क्यों कि कालक एक काल्पनिक व्यक्ति नहीं हैं इस लिए अब सातवाहन वंश के इतिहास के बारे में विद्वानों को फिर सोचविचार करना चाहिये। पञ्चकल्पभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य जैसे ग्रन्थों के कर्ता सङ्घदासगणि क्षमाश्रमण ने या दूसरे भाष्यकार चूर्णिकार ने जो ऐतिहासिक बातें लिखी हैं वे बिलकुल कपोलकल्पित नहीं किन्तु ज्यादातर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐतिहासिक तत्त्ववाली प्रतीत होती जा रही हैं। कुणाल, सम्प्रति और अशोकविषयक कथा जो बृहत्कल्प-भाष्य में है उसकी ऐतिहासिकता की प्रतीति डा० मोतीचन्द्रजी ने इन्डिअन हिस्टॉरिकल कॉंग्रेस, १७ वाँ सम्मिलन, १९५४, अहमदाबाद में अपने विभागीय-प्रमुख व्याख्यान में करवाई है। भाष्यों में मुरुण्ड राजाओं के उल्लेख भी आखिर सत्य मालूम हुए थे। सम्प्रति ने जैन साधुओं के विहार के लिए, आन्ध्र और दक्षिण में सुविधायें कीं यह भी सत्यघटना है। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में (द्रविड-प्रदेश)में सम्प्रति ने मौर्यसाम्राज्य को बढ़ाया या बलवत्तर किया है। बृहत्कल्पभाष्य और आवश्यक चूर्णि के नहपान और सातवाहन के बीच के संघर्ष की और सातवाहन राजा की जीत की बात भी सत्य मालूम पड़ी है, क्यों कि गौतमीपुत्र सातकर्णी ने नहपान के सिक्कों पर फिर अपनी महोर लगाई है। हमारे ख़याल में नहपान को जीतनेवाला सातवाहन कालक के समकालीन सातवाहन नरेश के बाद का राजा है।

बलमित्र-भानुमित्र और कालक का समकालीन सातवाहन ई० स० पूर्व की प्रथम शताब्दि के पूर्वार्द्ध या ई० स० पूर्व की द्वितीय शताब्दि के उत्तरार्द्ध में हुआ था। वह सातवाहन कौन था? ये बातें अब फिर विचारणीय हैं क्यों कि कालक सचमुच हुआ था।

जैन आगम-साहित्य भारतीय संस्कृति और इतिहास के अध्ययन में अति महत्त्व का है इस बात की ओर योग्य ध्यान नहीं गया है। इस आगम साहित्य में कई बातें ऐसी हैं जिनका महत्त्व प्राचीन बौद्ध साहित्य से या ब्राह्मण साहित्य से कम नहीं। इन तीनों साहित्य का अध्ययन एक दूसरे का पूरक है। जिस को हम पुरातत्त्व में Northern Black Polished Ware (N.B.P.) कहते हैं या अशोक के जमाने का जो High Polish देखने में आता है, उसका एक मात्र वर्णन-संदर्भ हमें जैन औपपातिक सूत्र में पृथिवीशिलापट के वर्णक में मिलता है।[१०८]

इससे हमें चाहिये कि जैन आगम साहित्य, विशेष करके भाष्यों और चूर्णियों की ओर ज्यादा ध्यान दें। इसकी अच्छी समीक्षा भारतीय संस्कृति के इतिहास में हमें सहाय्यक होगी। भाषाशास्त्रियों के लिए भी भाष्यों और विशेषतः चूर्णियों में विपुल सामग्री पड़ी है।

सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप में भारतीय-संस्कृति के प्रचार में पश्चिम और मध्य भारत का भी हिस्सा है जिसकी ओर भी ध्यान देना जुरूरी है। सूर्पारक से सुवर्णभूमि जानेवाले व्यापारियों की कथा जातकों में मिलती है। कालक के कार्यप्रदेश भी पश्चिम, दक्षिण और माध्यभारत थे और वे सुवर्णभूमि में गये। गुजरात के व्यापारी जावा को जाते थे, गुप्तोत्तर काल में भी। गुजराती में इस मतलब की एक कहावत है कि जो जावा को जाता है वह बहुधा वापस नहीं आता है और यदि कोई लोट आया, तो इतना धन लाता है जो पीढ़ियों तक अखूट रहे। प्राचीन जावा के रामायण 'काकविन' [१०९] का वस्तु पश्चिम भारत में रचित भट्टिकाव्य से विशेषतः लिया गया है यह बात भी सूचक है।[११०]

---

१०८. देखो, उमाकान्त शाह, **स्टडीझ इन जैन आर्ट** (बनारस, १९५५), पृ० ६१-६९-८१.

१०९. इसके विशेष विवरण के लिये देखिये, डॉ० सो० हूइकासकृत **द ओल्ड-जावानीझ रामायण काक-विन, अेवनहेग (नैदर्लैन्डझ)**, १९५५.

११०. इस लेख की हिन्दी भाषाशुद्धि और प्रुफ देखने के लिये श्री जयन्तभाई ठाकर और पं० दलसुखभाई मालवणियाजी का ऋणी हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org